प्रवचनसार

*

प्रवचनसार

अब मंगलाचरण और ग्रंथका उद्देश्य कहते हैं

एस सुरासुरमणुसिंदवंदिदं धोदघाइकम्ममलं।
पणमामि वड्ढमाणं, तित्थं धम्मस्स कत्तारं।।१।।
सेसे पुण तित्थयरे, ससव्वसिद्धे विसुद्धसब्भावे।
समणे य णाणदंसण,चरित्ततववीरियायारे।।२।
ते ते सव्वे समगं, समगं पत्तेगमेव पत्तेयं।
वंदामि य वट्टंते, अरहंते माणुसे खेत्ते।।३।।
किच्चा अरहंताणं, सिद्धाणं तह णमो गणहराणं।
अज्झावयवग्गाणं, साहूणं चेव सव्वेसिं।।४।।
तेसिं विसुद्धदंसणणाणपहाणासमं समासेज्ज।
उवसंपयामि सम्मं, जत्तो णिव्वाणसंपत्ती।।५।। [पणगं]

यह मैं कुंदकुंदाचार्य, सुर असुर और मनुष्योंके इंद्रोसे वंदनीय, घातिकर्म रूप मलको नष्ट करनेवाले और धर्मतीर्थके कर्ता श्री वर्धमान स्वामीको नमस्कार करता हूँ।।१।। इसके अनंतर समस्त सिद्धोंसे सहित विशुद्ध स्वभावके धारक अवशिष्ट तेईस तीर्थंकरोंको और ज्ञान दर्शन चारित्र तप एवं वीर्याचारके धारक श्रमणों --आचार्यादि महामुनियोंको नमस्कार करता हूँ।।२।। फिर मनुष्य क्षेत्र -- अढ़ाई द्वीपमें वर्तमान जितने अरहंत परमेष्ठी हैं उन सबको एक साथ अथवा पृथक् पृथक् रूपसे प्रत्येककी वंदना करता हूँ।।३।। इस प्रकार समस्त अरहंतों, सिद्धों, गणधरों, उपाध्यायों और साधुओंको नमस्कार कर तथा उनके विशुद्ध दर्शन ज्ञान प्रधान आश्रमको प्राप्त हो मैं उस साम्य भावको प्राप्त होता हूँ जिससे कि निर्वाण -- परमाह्लाद रूप मोक्षकी प्राप्त होती है।।४-५।।

आगे वीतराग और सरागचारित्र का फल बतलाते हैं --

संपज्जदि णिव्वाणं, देवासुरमणुयरायविहवेहिं।
जीवस्स चरित्तादो, दंसणणाणप्पहाणादो।।६।।

जीवको दर्शन ज्ञानप्रधान चारित्रसे देवेंद्र धरणेंद्र और चक्रवर्ती आदिके वैभवके साथ निर्वाणकी प्राप्ति होती है।

वीतराग और सरागके भेदसे चारित्र दो प्रकारका है। उनमेंसे वीतराग चारित्रसे निर्वाणकी प्राप्ति होती है और सराग चारित्रसे देवेंद्र आदिका वैभव प्राप्त होता है।।६।।

आगे चारित्रका स्वरूप कहते हैं --

चारित्तं खलु धम्मो, धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो, परिणामो अप्पणो हि समो।।७।।

निश्चयसे चारित्र धर्मको कहते हैं, शम अथवा साम्यभावको धर्म कहा है और मोह -- मिथ्यादर्शन तथा क्षोभ -- राग द्वेषसे रहित आत्माका परिणाम शम अथवा साम्यभाव कहलाता है।।७।।

आगे चारित्र और आत्माकी एकता सिद्ध करते हैं --

परिणमदि जेण दव्वं, तक्कालं[1] तम्मयत्ति पण्णत्तं।
तम्हा धम्मपरिणदो, आदा धम्मो मुणेयव्वो[2]।।८।।

द्रव्य जिस कालमें जिस रूप परिणमन करता है उस कालमें वह उसी रूप हो जाता है ऐसा जिनेंद्र भगवानने कहा है इसलिए धर्मरूप परिणत आत्मा धर्म हो जाता है --चारित्र हो जाता है ऐसा जानना चाहिए।

अब जीवकी शुभ अशुभ और अशुद्ध दशाका निरूपण करते हैं --

जीवो परिणमदि जदा, सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो।
सुद्धेण तदा सुद्धो, हवदि हि परिणामसब्भावो।।९।।

जीव जिस समय शुभ अथवा अशुभरूप परिणमन करता है उस समय शुभ अथवा अशुभ हो जाता है और जिस समय शुद्धरूप परिणमन करता है उस समय उसके शुद्ध रूप परिणामका सद्भाव हो जाता है।।९।।

आगे परिणाम वस्तुका स्वभाव है ऐसा निश्चय करते हैं --

णत्थि विणा परिणामं, अत्थो अत्थं विणेह परिणामो।
दव्वगुणपज्जयत्थो, अत्थो अत्थित्तणिव्वत्ता।।१०।।

पर्यायके बिना अर्थ नहीं होता और अर्थके बिना पर्याय नहीं रहता। द्रव्य गुण और पर्यायमें स्थित रहनेवाला अर्थ ही अस्तित्वगुणसे युक्त होता है। जिस प्रकार कटक कुंडलादि पदार्थोंके बिना सुवर्ण नहीं रह सकता और सुवर्णके बिना कटक कुंडलादि पर्याय नहीं रह सकते उसी प्रकार पर्यायोंके बिना कोई भी पदार्थ नहीं रह सकता और पदार्थके बिना कोई भी पर्याय नहीं रह सकते। तात्पर्य यह है कि जो पदार्थ द्रव्य गुण और पर्यायमें स्थित रहता है -- सामान्य विशेषात्मक होता है उसीका सद्भाव होता है। सामान्य और

१. तक्काले ज. वृ. ।२. मुणेदव्वो ज. वृ. ।

विशेष -- द्रव्य और पर्याय परस्पर निरपेक्ष होकर नहीं रह सकते।।१०।।

आगे शुभ और शुद्ध परिणामका फल कहते हैं --

धम्मेण परिणदप्पा, अप्पा जदि सुद्धसंपओगजुदो।
पावदि णिव्वाणसुहं, सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं।।११।।

धर्म अर्थात् चारित्रगुणरूप जिसका आत्मा परिणत हो रहा है ऐसा जीव यदि शुद्धोपयोगसे सहित है तो निर्वाणसुखको पाता है और यदि शुभोपयोगसे सहित है तो स्वर्गसुखको प्राप्त करता है।।११।।

आगे अशुभ परिणामका फल अत्यंत हेय है ऐसा कहते हैं --

असुहोदयेण आदा, कुणरो तिरियो भवीय णेरइयो।
दुक्खसहस्सेहिं सदा, अभिंधुदो भमइ अच्चंतं।।१२।।

अशुभोपयोग परिणमन करनेसे जीव खोटा मनुष्य, तिर्यंच और नारकी होकर हजारों दुःखोंसे दुःखी होता हुआ सदा संसारमें अत्यंत भ्रमण करता रहता है। अशुभोपयोगमें चारित्रका अल्पमात्र भी संबंध नहीं होता इसलिए यह जीव अशुभ कर्मोंका बंध कर दुर्गतियोंमें निरंतर भ्रमण करता रहता है।।१२।।

आगे शुद्धोपयोगका फल बतलाते हुए उसकी प्रशंसा करते हैं --

अइसयमादसमुत्थं, विसयातीदं अणोवममणंतं।
अव्वुच्छिण्णं च सुहं, सुद्धुवओगप्पसिद्धाणं।।१३।।

शुद्धोपयोगसे निष्पन्न अरहंत सिद्ध भगवानको अतिशय रूप -- सबसे अधिक, आत्मासे उत्पन्न, विषयातीत, अनुपम, अनंत और अनंतरित सुख प्राप्त होता है।।१३।।

आगे शुद्धोपयोगरूप परिणत आत्माका स्वरूप कहते हैं --

सुविदिदपदत्थसुत्तो, संजमतवसंजुदो विगदरागो।
समणो समसुहदुक्खो, भणिदो सुद्धोवओगोत्ति।।१४।।

जिसने जीवाजीवादि पदार्थ और उनके प्रतिपादक शास्त्रको अच्छी तरह जान लिया है, जो संयम और तपसे सहित है, जिसका राग नष्ट हो चुका है और जो सुख-दुःखमें समता परिणाम रखता है ऐसा श्रमण -- मुनि शुद्धोपयोगका धारक कहा गया है।।१४।।

आगे शुद्धोपयोगपूर्वक ही शुद्ध आत्माका लाभ होता है ऐसा कहते हैं --

उवओगविसुद्धो जो, विगदावरणंतरायमोहरओ।
भूदो सयमेवादा, जादि परं णेयभूदाणं।।१५।।

जो जीव उपयोगसे विशुद्ध है अर्थात् शुद्धोपयोगका धारण करनेवाला है वह स्वयं ही ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय और मोहरूपी रजको नष्ट करता हुआ ज्ञेयभूत -- समस्त पदार्थोंके पारको प्राप्त होता

है -- त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थोंको जानता है।।१५।।

आगे शुद्धात्मस्वरूप जीव सर्वथा स्वाधीन है ऐसा निरूपण करते हैं --

तह सो लद्धसहावो, सव्वण्हू सव्वलोगपदिमहिदो।

भूदो सयमेवादा, हवदि सयंभुत्ति णिद्दिट्ठो।।१६।।

इस प्रकार शुद्धोपयोगके द्वारा जिसे आत्मस्वभाव प्राप्त हुआ है ऐसा जीव स्वयं ही सर्वज्ञ तथा समस्त लोकके अधिपतियों द्वारा पूजित होता हुआ स्वयंभू हो जाता है ऐसा कहा गया है।।१६।।

आगे शुद्ध आत्मस्वभावकी नित्यता तथा कथंचित् उत्पाद व्यय ध्रौव्यता दिखलाते हैं --

भंगविहीणो य भवो, संभवपरिवज्जिदो विणासो हि।

विज्जदि तस्सेव पुणो, ठिदिसंभवणाससमवायो।।१७।।

जो जीव स्वयंभू पदको प्राप्त हुआ है उसीका उत्पाद विनाशरहित है और विनाश उत्पादरहित है अर्थात् उसकी जो शुद्ध दशा प्रकट हुई है उसका कभी नाश नहीं होगा और जो अज्ञान दशाका नाश हुआ है उसका कभी उत्पाद नहीं होगा। इतना होनेपर भी उसके स्थिति उत्पाद और नाशका समवाय रहता है क्योंकि वस्तु प्रत्येक क्षण उत्पाद व्यय और ध्रौव्यात्मक रहती है।।१७।।

आगे उत्पादादि तीनों शुद्ध आत्मामें भी होते हैं ऐसा कथन करते हैं --

उप्पादो य विणासो, विज्जदि सव्वस्स अत्थजादस्स।

पज्जाएण दु केणवि, अत्थो[१] खलु होदि सब्भूदो[२]।।१८।।

निश्चयसे पदार्थसमूहका किसी पर्यायकी अपेक्षा उत्पाद होता है, किसी पर्यायकी अपेक्षा विनाश होता है और किसी पर्यायकी अपेक्षा वह पदार्थ सद्भूत अर्थात् ध्रौव्यरूप होता है। अँगूठी आदि पर्यायकी अपेक्षा विनाश होता है और पीतता आदि पर्यायकी अपेक्षा वह ध्रौव्यरूप रहता है इसी प्रकार समस्त द्रव्योंमें समझना चाहिए।।१८।।[३]

आगे इंद्रियोंके विना ज्ञान ओर आनंद किस प्रकार होते हैं ? ऐसा संदेह दूर करते हैं --

पक्खीणघादिकम्मो, अणंतवरवीरिओ अधिकतेजो।

जादो अदिंदिओ सो, णाणं सोक्खं च परिणमदि।।१९।।

---

१. अट्ठो २. संभूदो ज. वृ.।

३. घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम्।।५९।।
पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम्।। ६०।। -- आप्तमीमांसा समन्तभद्रस्य।

शुद्धोपयोगकी सामर्थ्यसे जिसके घातिया कर्म नष्ट हो चुके हैं, क्षायोपशमिक ज्ञान और दर्शनसे संपृक्त होनेके कारण जो अतींद्रिय हुआ है, समस्त अंतरायका क्षय हो जानेसे जिसके अनंत उत्कृष्ट वीर्य प्रकट हुआ है और ज्ञानावरण तथा दर्शनावरणके अत्यंत क्षयसे जिसके केवलज्ञान तथा केवलदर्शनरूप अधिक तेज जागृत हुआ है वह शुद्धात्मा ही स्वयं ज्ञान तथा सुख रूप परिणमन करने लगता है। इस प्रकार ज्ञान और सुख आत्माके स्वभाव ही हैं। चूँकि स्वभाव परकी अपेक्षा नहीं रखता इसलिए शुद्धात्माके इंद्रियोंके बिना ही ज्ञान और सुख संभव हैं।।१९।।[१]

आगे अतींद्रिय होनेसे शुद्धात्माके शारीरिक सुख-दुःख नहीं होते हैं ऐसा कथन करते हैं --

सोक्खं वा पुण दुक्खं, केवलणाणिस्स णत्थि देहगदं।
जम्हा अदिंदियत्तं, जादं तम्हा दु तं णेयं।।२०।।

चूँकि केवलज्ञानीके अतींद्रियपना प्रकट हुआ है इसलिए उनके शरीरगत सुख और दुःख नहीं होते ऐसा जानना चाहिए।।२०।।

आगे केवली भगवानको अतींद्रिय ज्ञानसे ही सब वस्तुका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है यह कहते हैं --

परिणमदो खलु णाणं, पच्चक्खा सव्वदव्वपज्जाया।
सो णेव ते विजाणदि, [२]ओग्गहपुव्वाहिं किरियाहिं।।२१।।

केवलज्ञानरूप परिणमन करनेवाले केवली भगवानके समस्त द्रव्य और उनकी समस्त पर्यायें सदा प्रत्यक्ष रहती हैं। वे अवग्रह आदिरूप क्रियाओंसे द्रव्य तथा पर्यायोंको नहीं जानते हैं।।२१।।

आगे केवलीके कुछ परोक्ष नहीं है ऐसा कहते हैं --

णत्थि परोक्खं किंचिवि, समंत सव्वक्खगुणसमिद्धस्स।
अक्खातीदस्स सदा, सयमेव हि णाणजादस्स।।२२।।

जो समस्त आत्माके प्रदेशोंमें स्पर्श रस गंधरूप और शब्दज्ञानरूप समस्त इंद्रियोंके गुणोंसे समृद्ध हैं, अथवा आत्माके समस्त गुणोंसे संपन्न हैं[३], इंद्रियोंसे अतीत हैं तथा स्वयं ही सदा ज्ञानरूप परिणत हो रहे हैं ऐसे केवली भगवानके कुछ भी पदार्थ परोक्ष नहीं हैं -- वे त्रिकाल और लोकालोकवर्ती समस्त पदार्थोंको युगपद् जानते हैं।।२२।।

---

१. १९ वीं गाथाके आगे जयसेन वृत्तिमें निम्नलिखित गाथा अधिक है --
तं सव्वट्ठवरिट्ठं इट्ठं अमरासुरप्पहाणेहिं।
ये सद्दहंति जीवा तेसिं दुक्खाणि खीयंति।। -- ज. वृ.

२. उग्गहपुव्वाहिं ज. वृ.।

३. अथवा द्वितीयव्याख्यानं -- अक्ष्णोति ज्ञानेन व्याप्नोतीत्यक्ष आत्मा तद्गुणसमृद्धस्य ज. वृ.।

आगे आत्माको ज्ञानप्रमाण और ज्ञानको सर्वव्यापक दिखलाते हैं -

आदा णाणपमाणं, णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं।
णेयं लोगालोगं, तम्हा णाणं तु सव्वगयं।।२३।।

आत्मा ज्ञानके बराबर और ज्ञान ज्ञेयके बराबर कहा गया है। ज्ञेय लोक तथा अलोक है इसलिए ज्ञान सर्वगत है।।

'प्रत्येक द्रव्य अपने गुण और पर्यायोंके बराबर होता है' ऐसा आगमका वचन होनेसे आत्मा अपने ज्ञानगुणके बराबर ही है, न उससे हीन है और न अधिक। ज्ञानगुण ज्ञेय अर्थात् जाननेयोग्य पदार्थके बराबर होता है और ज्ञेय लोक तथा अलोकके समस्त पदार्थ हैं। अर्थात् ज्ञान उन्हें जानता है इसलिए विषयकी अपेक्षा सर्वगत -- सर्वव्यापक है।।२३।।

आगे आत्माको ज्ञानप्रमाण न माननेपर दो पक्ष उपस्थित कर उन्हें दूषित करते हैं --

णाणप्पमाणमादा, ण हवदि जस्सेह तस्स सो आदा।
हीणो वा अधिगो वा, णाणादो हवदि धुवमेव।। २४।।
हीणो जदि सो आदा, तण्णाणमचेदणं ण जाणादि।
अधिगो वा णाणादो, णाणेण विणा कहं णादि।।२५।। जुगलं

इस लोकमें जिसके मतमें आत्मा ज्ञानप्रमाण नहीं होता है उसके मतमें वह आत्मा निश्चय ही ज्ञानसे हीन अथवा अधिक होगा। यदि आत्मा ज्ञानसे हीन है तो वह ज्ञान चेतनके साथ समवाय न होनेसे अचेतन हो जायेगा और उस दशामें पदार्थको नहीं जान सकेगा। इसके विरुद्ध यदि आत्मा ज्ञानसे अधिक है तो वह ज्ञानातिरिक्त आत्मा ज्ञानके विना पदार्थको किस प्रकार जान सकेगा? जब कि ज्ञान ही जाननेका साधन है।।२४-२५।।

आगे ज्ञानकी भाँति आत्मा भी सर्वव्यापक है ऐसा सिद्ध करते हैं --

सव्वगदो जिणवसहो, सव्वेवि य तग्गया जगदि अट्ठा।
णाणमयादो य जिणो, विसयादो तस्स ते भणिदा।।२६।।

ज्ञानमय होनेसे जिनश्रेष्ठ सर्वज्ञ भगवान सर्वगत अर्थात् सर्वव्यापक हैं और उन भगवानके विषय होनेसे उससे तन्मय रहनेवाला सर्वज्ञ भी सर्वव्यापक है यह सिद्ध हुआ।।२६।।

आगे आत्मा और ज्ञानमें एकता तथा अन्यताका विचार करते हैं --

णाणं अप्पत्ति मदं, वट्टदि[१] णाणं विणा ण अप्पाणं।
तम्हा णाणं अप्पा, अप्पा णाणं व अण्णं वा।।२७।।

१. वट्टइ ज. वृ. ।

ज्ञान आत्मा है ऐसा माना गया है, चूँकि ज्ञान आत्माके विना नहीं होता इसलिए ज्ञान आत्मा है और आत्माके सिवाय अन्य गुणोंका भी आश्रय है अतः ज्ञानरूप भी है और अन्यरूप भी है।

आत्मा अनंत गुणोंका पिंड है, ज्ञान उन अनंत गुणोंमें एक प्रधान गुण है और आत्माके सिवाय अन्यत्र नहीं पाया जाता है, इसलिए गुणगुणीमें अभेद विवक्षा कर ज्ञानको आत्मा कह दिया है। परंतु आत्मा जिस प्रकार ज्ञान गुणका आधार है उसी प्रकार अन्य गुणोंका भी आधार है। इसलिए ज्ञानगुणके आधारकी अपेक्षा आत्मा ज्ञानरूप है तथा अन्य गुणोंके आधारकी अपेक्षा ज्ञानरूप नहीं भी है।।२७।।

आगे ज्ञान न तो ज्ञेयमें जाता है और न ज्ञेय ज्ञानमें जाता है ऐसा प्ररूपण करते हैं --

णाणी णाणसहावो, अत्था[1] णेयापगा हि णाणिस्स।
रूवाणि व चक्खूणं, णेवण्णोण्णेसु वट्टंति।।२८।।

निश्चयसे आत्मा ज्ञानस्वभाववाला है और पदार्थ उस ज्ञानी -- आत्माके ज्ञेयस्वरूप हैं। जिस प्रकार रूपी पदार्थ चक्षुओंमें प्रविष्ट नहीं होते और चक्षु रूपी पदार्थोंमें प्रविष्ट नहीं होते उसी प्रकार ज्ञेय ज्ञानी आत्मामें प्रविष्ट नहीं है और ज्ञानी ज्ञेय पदार्थोंमें प्रविष्ट नहीं है। पृथक् रहकर ही इन दोनोंमें ज्ञेय-ज्ञायक संबंध है।।

आगे यद्यपि निश्चयसे ज्ञानी-ज्ञेयोंमें -- पदार्थोंमें प्रविष्ट नहीं होता है तो व्यवहारसे प्रविष्टके समान जान पड़ता है ऐसा कथन करते हैं --

ण पविट्ठो णाविट्ठो, णाणी णेयेसु रूवमिव चक्खू।
जाणदि पस्सदि णियदं, अक्खातीदो जगमसेसं।।२९।।

इंद्रियातीत अर्थात् अतींद्रिय ज्ञानसहित आत्मा जाननेयोग्य पदार्थोंमें प्रविष्ट नहीं होता और प्रविष्ट नहीं होता सर्वथा ऐसा भी नहीं है, व्यवहारकी अपेक्षा प्रविष्ट होता भी है। वह रूपी पदार्थको नेत्रकी तरह समस्त संसारको निश्चित रूपसे जानता है।

जिस प्रकार चक्षु रूपी पदार्थमें प्रविष्ट नहीं होता फिर भी वह उसे देखता है इसी प्रकार आत्मा जाननेयोग्य पदार्थमें प्रविष्ट नहीं होता फिर भी वह उसे जानता है। परंतु दृश्य-दर्शक संबंध होनेकी अपेक्षा व्यवहारसे जिस प्रकार चक्षु रूपी पदार्थमें प्रविष्ट हुआ कहलाता है उसी प्रकार ज्ञेय-ज्ञायक संबंध होनेकी अपेक्षा व्यवहारसे आत्मा प्रविष्ट हुआ कहलाता है।।२९।।

आगे व्यवहारसे ज्ञान पदार्थोंमें प्रवर्तता है ऐसा उदाहरणपूर्वक कहते हैं --

रदणमिह इंदणीलं, दुद्धज्झसियं जहा सभासाए।
अभिभूय तंपि दुद्धं, वट्टदि तह णाणमत्थेसु।।३०।।

इस लोकमें जिस प्रकार दूधमें डुबाया हुआ इंद्रनील मणि अपनी कांतिसे उस दूधको अभिभूत

करके -- नीला बनाकर रहता है उसी प्रकार ज्ञान भी पदार्थोंको अभिभूत कर -- ज्ञानरूप बनाकर उनमें रहता है।

यथार्थमें इंद्रनील मणि अपने आपमें ही रहता है, दूधमें जो नीलाकार परिणमन हो रहा है वह दूधका ही है, परंतु इंद्रनील मणिके संबंधसे होनेके कारण उपचारसे इंद्रनील मणिका कहलाता है, इसी प्रकार ज्ञान सदा ज्ञानरूप ही रहता है परंतु वह अपनी स्वच्छताके कारण दर्पणकी तरह घटपदादि पदार्थ रूप हो जाता है। ज्ञानमें जो घटपटादि पदार्थोंका आकार प्रतिफलित होता है वह यथार्थमें ज्ञानका ही है, परंतु पदार्थोंके निमित्तसे होता है इसलिए पदार्थोंका कहलाता है। पदार्थ ज्ञानमें प्रतिबिंबित होते हैं इसी अपेक्षा 'ज्ञान पदार्थोंमें व्याप्त रहता है' ऐसा व्यवहार होता है।।३०।।

आगे व्यवहारसे पदार्थ ज्ञानमें रहते हैं यह बतलाते हैं --

जदि ते ण संति अत्था, णाणे णाणं, ण होदि सव्वगयं।
सव्वगयं वा णाणं, कहं ण णाणट्ठिया अत्था[१]।।३१।।

यदि वे पदार्थ ज्ञानमें नहीं रहते हैं ऐसा माना जाय तो ज्ञान सर्वगत नहीं हो सकता और यदि ज्ञान सर्वगत है ऐसा माना जाता है तो पदार्थ ज्ञानमें स्थित क्यों न माने जावें? अवश्य माने जावें।

आगे यद्यपि ज्ञानका पदार्थोंके साथ ग्राहक-ग्राह्य संबंध है तथापि निश्चयसे दोनों पृथक् हैं ऐसा बतलाते हैं --

गेण्हदि णेव ण मुंचदि, ण परं परिणमदि केवली भगवं।
पेच्छदि समंतदो सो, जाणदि सव्वं णिरवसेसं।।३२।।

केवली भगवान् परपदार्थोंको न ग्रहण करते हैं न छोड़ते हैं और न उनरूप परिणमन ही करते हैं, फिर भी वे समस्त पदार्थोंको संपूर्ण रूपसे सर्वांग ही देखते हैं और जानते हैं।

यद्यपि निश्चयनयसे केवली भगवान् किन्हीं परपदार्थोंका ग्रहण तथा त्याग आदि नहीं करते तथापि व्यवहार नयसे वे समस्त पदार्थोंके ज्ञाता द्रष्टा कहे जाते हैं।।३२।।

आगे केवलज्ञानी और श्रुतकेवलीमें समानता बतलाते हैं --

जो हि सुदेण विजाणदि, अप्पाणं जाणगं सहावेण।
तं सुयकेवलिमिसिणो, भणंति लोगप्पदीवयरा।।३३।।

निश्चयसे जो पुरुष श्रुतज्ञानके द्वारा स्वभावसे ही जाननेवाले अपने आत्माको जानता है उसे लोकको प्रकाशित करनेवाले ऋषि श्रुतकेवली कहते हैं।।

जिस प्रकार केवलज्ञानी एक साथ परिणत समस्त चैतन्य विशेषसे शोभायमान केवलज्ञानके

१. अट्ठा ज. वृ. ।

द्वारा अनादिनिधन, कारणरहित, असाधारण और स्वसंवेदन ज्ञानकी महिमा सहित केवल आत्माको अपने आपमें वेदन करता है -- अनुभव करता है उसी प्रकार श्रुतकेवली भी क्रमशः परिणमन करनेवाली कुछ चैतन्य शक्तियोंसे सुशोभित श्रुतज्ञानसे पूर्वोक्त विशिष्ट आत्माको अपने आपमें वेदन करता है, इसलिए इन दोनोंमें वस्तुस्वरूप जाननेकी अपेक्षा समानता है, सिर्फ प्रत्यक्ष परोक्ष और ज्ञायक शक्तियोंके तारतम्यकी अपेक्षा ही विशेषता है।।३३।।

आगे श्रुतके निमित्तसे ज्ञानमें जो भेद होता है उसे दूर करते हैं --

सुत्तं जिणोवदिट्ठं , पोग्गलदव्वप्पगेहिं वयणेहिं।
[१]तज्जाणणा हि णाणं, सुत्तस्स य जाणणा भणिया।।३४।।

पुद्गल द्रव्यस्वरूप वचनोंके द्वारा जिनेंद्र भगवानने जो उपदेश दिया है वह द्रव्यश्रुत है, निश्चयसे उसका जानना भावश्रुत ज्ञान है और व्यवहारसे कारणमें कार्यका उपचार कर उस द्रव्यश्रुतको भी ज्ञान कहा है। इस उल्लेखसे यह सिद्ध हुआ कि सूत्रका ज्ञान श्रुतज्ञान कहलाता है, यदि कारणभूत श्रुतकी उपेक्षा कर दी जावे तो ज्ञान ही अवशिष्ट रहता है। वह ज्ञान केवली और श्रुतकेवलीके आत्मसंवेदनके विषयमें तुल्य ही रहता है। अतः उनके ज्ञानमें श्रुतनिमित्तक विशेषता नहीं होती।।३४।।

आगे आत्मा और ज्ञानमें कर्ता और करणगत भेदको दूर करते हैं --

जो जाणदि सो णाणं, ण हवदि णाणेण जाणगो आदा।
णाणं परिणमदि सयं, अट्ठा णाणट्ठिया सव्वे।।३५।।

जो जानता है वह ज्ञान है, आत्मा ज्ञानके द्वारा ज्ञायक नहीं है, किंतु वह स्वयं ही ज्ञानरूप परिणमन करता है और सब पदार्थ ज्ञानमें स्वयं स्थित रहते हैं।

आत्मा ज्ञप्तिक्रियाका कर्ता है और ज्ञान स्वयं उसका करण है। आत्मा गुणी है, ज्ञान गुण है। गुण-गुणीमें प्रदेशभेद नहीं है इसलिए आत्मा ही ज्ञान है और ज्ञान ही आत्मा है। जिस प्रकार अग्नि और उष्णतामें अभेद है उसी प्रकार आत्मा और ज्ञानमें अभेद है।।३५।।

आगे ज्ञान क्या है? और ज्ञेय क्या है? इसका विवेक करते हैं --

तम्हा णाणं जीवो, णेयं दव्वं तिधा समक्खादं।
दव्वंति पुणो आदा, परं च परिणामसंबद्धं।।३६।।

चूँकि जीव और ज्ञानमें अभेद है अतः जीव ज्ञानस्वरूप है और अतीत अनागत वर्तमान अथवा उत्पाद व्यय ध्रौव्यके तीन प्रकार परिणमन करनेवाला द्रव्य ज्ञेय है -- ज्ञानका विषय है। फिर जीव तथा पुद्गल आदि पाँच अजीव पदार्थ परिणमनसे संबद्ध होनेके कारण द्रव्य इस व्यवहारको प्राप्त होते हैं।

१. तं जाणणा

ज्ञान आत्मस्वरूप है परंतु ज्ञेय आत्मा और अनात्माके भेदसे दो प्रकारका है।।३६।।

आगे अतीत अनागत पर्यायें वर्तमानकी तरह ज्ञानमें प्रतिभासित होती हैं ऐसा कथन करते हैं --

तक्कालिगेव सव्वे, सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं।
वट्टंते ते णाणे, विसेसदो दव्वजादीणं।।३७।।

उन प्रसिद्ध जीव-पुद्गलादिक द्रव्यजातियोंके वे समस्त विद्यमान और अविद्यमान पर्याय निश्चयसे ज्ञानमें अपनी-अपनी विशेषता लिये हुए वर्तमान कालसंबंधी पर्यायोंकी तरह विद्यमान रहते हैं।

ज्ञान चित्रपटके समान है। जिस प्रकार चित्रपटमें भूत भविष्यत् और वर्तमान काल संबंधी वस्तुओंके चित्र युगपत् प्रतिभासित रहते हैं उसी प्रकार ज्ञानमें भी भूत भविष्यत् और वर्तमान काल संबंधी द्रव्य पर्याय प्रतिभासित होते रहते हैं।।३७।।

आगे अविद्यमान पर्याय किसी अपेक्षासे विद्यमान है ऐसा बतलाते हैं --

जे णेव हि संजाया, जे खलु णट्ठा भवीय पज्जाया।
ते होंति असब्भूया, पज्जाया णाणपच्चक्खा।।३८।।

निश्चयसे जो पर्याय उत्पन्न नहीं हुए हैं और जो उत्पन्न होकर नष्ट हो गये हैं वे अतीत और अनागत काल संबंधी समस्त पर्याय यद्यपि असद्भूत पर्याय हैं -- वर्तमानमें अविद्यमान रूप हैं तथापि ज्ञानमें प्रत्यक्ष होनेसे कथंचित् सद्भूत हैं।।३८।।

आगे असद्भूत पर्यायें ज्ञानमें प्रत्यक्ष हैं इसीको पुष्ट करते हैं --

यदि पच्चक्खमजादं, पज्जायं पलयिदं ण णाणस्स।
ण हवदि वा तं णाणं, दिव्वंति हि के परूविंति।।३९।।

यदि अजात -- अनुत्पन्न और प्रलयित -- विनष्ट पर्याय केवलज्ञानके प्रत्यक्ष नहीं होते तो उसे 'यह दिव्य ज्ञान है -- सबसे उत्कृष्ट ज्ञान है' ऐसा कौन प्ररूपण करते हैं। केवलज्ञानकी उत्कृष्टता इसीमें है कि वह अतीत-अनागत पर्यायोंको भी प्रत्यक्षवत् स्पष्ट जानता है।।३९।।

आगे इंद्रियजन्य ज्ञान अतीत अनागत पर्यायोंके जाननेमें असमर्थ है ऐसा कहते हैं --

अत्थं[1] अक्खणिवदिदं, ईहापुव्वेहिं जे विजाणंति ।
तेसिं परोक्खभूदं, णादुमसक्कंति पण्णत्तं।।४०।।

जो जीव इंद्रियगोचर पदार्थको ईहा-अवाय-धारणापूर्वक जानते हैं उन्हें परोक्ष पदार्थ -- असद्भूत पर्यायका जानना अशक्य है ऐसा जिनेंद्र भगवानने कहा है।।४०।।

१. अट्ठं ज. वृ. ।

आगे अतींद्रिय ज्ञान सब कुछ जानता है ऐसा कहते हैं --

अपदेसं सपदेसं, मुत्तममुत्तं च पज्जयमजादं।
पलयं गदं च जाणदि, तं णाणमदिंदियं भणियं।।४१।।

जो ज्ञान प्रदेशरहित कालाणु अथवा परमाणुको, प्रदेशसहित पंचास्तिकायोंको, मूर्त अर्थात् पुद्गलको अमूर्त अर्थात् मूर्तिरहित शुद्ध जीवादि द्रव्योंको अनुत्पन्न और विनष्ट पर्यायोंको जानता है वह अतींद्रिय ज्ञान कहा गया है।।४१।।

आगे अतींद्रिय ज्ञानमें पदार्थाकार परिणमन रूप क्रिया नहीं होती ऐसा कहते हैं --

परिणमदि णेयमट्ठं, णादा जदि णेव खाइगं तस्स।
णाणंति तं जिणिंदा, खवयंतं कम्ममेवुत्ता।।४२।।

यदि ज्ञाता आत्मा ज्ञेय पदार्थके प्रति संकल्प-विकल्परूप परिणमन करता है तो उसके क्षायिक ज्ञान नहीं है, इसके विपरीत जिनेंद्र भगवानने उस आत्माको कर्मका अनुभव करनेवाला अर्थात् संसारी ही कहा है।।४२।।

आगे ज्ञान बंधका कारण नहीं है, किंतु ज्ञेयमें जो राग-द्वेषरूप आत्माकी परिणति है वह बंधका प्रत्यक्ष कारण है ऐसा कहते हैं --

उदयगदा कम्मंसा, जिणवरवसहेहिं णियदिणा भणिया।
तेसु हि मुहिदो रत्तो, दुट्ठो वा बंधमणुहवदि।।४३।।

जिनेंद्र भगवानने कहा है कि संसारी जीवके नियमपूर्वक कर्मोंके अंश प्रतिसमय उदयमें आते रहते हैं। जो जीव उन उदयागत कर्मांशोंमें मोही रागी अथवा द्वेषी होता है वह बंधका अनुभव करता है।।४३।।

आगे रागादिका अभाव होनेसे केवली भगवानकी धर्मोपदेश आदि क्रियाएँ बंधका कारण नहीं हैं ऐसा कहते हैं --

ठाणणिसेज्जविहारा, धम्मुवएसो य णियदयो तेसिं।
अरहंताणं काले, मायाचारोव्व इच्छीणं।।४४।।

जिस प्रकार स्त्रियोंके मायाचार रूप प्रवृत्ति स्वभावसे ही होती है उसी प्रकार अरहंत भगवानके अरहंत अवस्थाके कालमें स्थान-विहार करते-करते रुक जाना, निषद्या -- समवसरणमें आसीन होना, विहार -- आर्यक्षेत्रोंमें विहार करना और धर्मोपदेश देना ये कार्य स्वभावसे ही होते हैं।

चूँकि भगवानके मोहका उदय नहीं होता इसलिए उनकी समस्त क्रियाएँ इच्छाके अभावमें होती हैं और इसीलिए वे उनके बंधका कारण नहीं होतीं।।४४।।

आगे अरहंत भगवानके पुण्यकर्मका उदय बंधका कारण नहीं है यह कहते हैं --

पुण्णफला अरहंता, तेसिं किरिया पुणो हि ओदयिगा[१]।
मोहादीहिं विरहिदा, तम्हा सा खाइगत्ति मदा।।४५।।

अरहंत भगवान् तीर्थंकर नामक पुण्य प्रकृतिके फल हैं अर्थात् अरहंत पद तीर्थंकर नामक पुण्यप्रकृतिके उदयसे होता है और उनकी शारीरिक तथा वाचनिक क्रिया निश्चयसे कर्मोदयजन्य है, तथापि वह क्रिया मोह राग द्वेषादि भावोंसे रहित है इसलिए क्षायिक मानी गयी है।

यद्यपि औदयिक भाव बंधके कारण होते हैं तथापि मोहका उदय साथ न होनेसे अरहंत भगवान् के औदयिक भाव बंधके प्रति अकिंचित्कर रहते हैं।।४५।।

आगे केवलियोंकी तरह सभी जीवोंके स्वभावका कभी विघात नहीं होता ऐसा कहते हैं --

जदि सो सुहो व असुहो, ण हवदि आदा सयं सहावेण।
संसारोवि ण विज्जदि, सव्वेसिं जीवकायाणं।।४६।।

यदि वह आत्मस्वभावसे शुभ अथवा अशुभरूप नहीं होवे तो समस्त जीवोंके संसार ही नहीं होवे। जिस प्रकार स्फटिकमणि जपा तथा तपिच्छ आदि फूलोंके संसर्गसे लाल तथा नीला परमणमन करन् लगता है उसी प्रकार यह आत्मा परिणामी होनेके कारण शुभ अशुभ कर्मोदयका निमित्त मिलनेसे शुभ अशुभरूप परिणमन करने लगता है। केवली भगवानके शुभ अशुभ कर्मोंका उदय छूट जाता है इसलिए उन्हें शुभ अशुभरूप परिणमनसे रहित कहा है, परंतु संसारी जीवोंके वह निमित्त विद्यमान रहता है इसलिए उन्हें शुभ अशुभ परिणमनसे सहित माना गया है। यदि केवली भगवान् की तरह संसारके प्रत्येक प्राणीको शुभ अशुभ परिणमनसे रहित मान लिया जाये तो उनके संसारका अभाव हो जावे -- वे नित्यमुक्त कहलाने लगें, परंतु ऐसा मानना प्रत्यक्ष विरुद्ध है। अतः केवलीके सिवाय अन्य संसारी जीवोंके शुभ अशुभ परिणमन माना जाता है।।४६।।

आगे पहले कहा गया अतींद्रिय ज्ञान ही सब पदार्थोंको जानता है ऐसा कहते हैं --

जं तक्कालियमिदरं, जाणदि जुगवं समंतदो सव्वं।
अत्थं विचित्तविसमं, तं णाणं खाइयं भणियं।।४७।।

जो ज्ञान सर्वांगसे वर्तमान भूत भविष्यत् कालसंबंधी पर्यायोंसे सहित, विविध तथा मूर्तिक अमूर्तिकके भेदसे विषमताको लिये हुए समस्त पदार्थोंको एक साथ जानता है उसे क्षायिक ज्ञान कहा गया है।।४७।।

आगे जो सबको नहीं जानता वह एकको भी नहीं जानता इस विचारको निश्चित करते हैं --

१. ओदइया ज. वृ. ।

जो ण विजाणदि जुगवं, अत्थे तेक्कालिके[1] तिहुवणत्थे।
णादुं तस्स ण सक्कं, सपज्जयं दव्वमेकं वा।।४८।।

जो पुरुष तीन लोकमें स्थित तीन कालसंबंधी समस्त पदार्थोंको एकसाथ नहीं जानता उसके अनंत पर्यायोंसे सहित एक द्रव्यको भी जाननेकी शक्ति नहीं है।

जिस प्रकार दाह्य -- इंधनको जलानेवाली अग्नि स्वयं दाह्यके आकार परिणत हो जाती है उसी प्रकार ज्ञेयोंको जाननेवाला आत्मा स्वयं ज्ञेयाकार परिणत हो जाता है। केवलज्ञानी अनंत ज्ञेयोंको जानते हैं इसलिए उनके आत्मामें अनंत ज्ञेयोंके आकार दर्पणमें घटपटादि के समान प्रतिबिंबित रहते हैं। अतः जो केवलज्ञानके द्वारा प्रकाश्य अनंत पदार्थोंको नहीं जानता वह उनके प्रतिबिंबाधार आत्माको भी नहीं जानता।।४८।।

आगे जो एकको नहीं जानता वह सबको नहीं जानता ऐसा निश्चयय कहते हैं --

दव्वं अणंतपज्जयमेक्कमणंताणि दव्वजादाणि।
ण विजाणदि जदि जुगवं, कधं सो सव्वाणि जाणादि।।४९।।

जो अनंत पर्यायोंवाले एक -- आत्मद्रव्यको नहीं जानता है वह अंतरहित संपूर्ण द्रव्योंके समूहको कैसे जान सकता है? जिस आत्मामें अनंत ज्ञेयोंके आकार प्रतिफलित हो रहे हैं वही समस्त द्रव्योंको जान सकता है। तात्पर्य यह हुआ कि जो एकको जानता है वह सबको जानता है और जो सबको जानता है वह एकको जानता है। यहाँ एकसे तात्पर्य केवलज्ञानविशिष्ट आत्मा से हैं[2]।।४९।।

आगे क्रमपूर्वक जाननेसे ज्ञानमें सर्वगतपना सिद्ध नहीं हो सकता ऐसा सिद्ध करते हैं --

उप्पज्जदि जदि णाणं, कमसो [3]अत्थे पडुच्च णाणिस्स।
तं णेव हवदि णिच्चं, ण [4]खाइगं णेव [5]सव्वगदं।।५०।।

यदि ज्ञानी -- आत्माका ज्ञान क्रमसे पदार्थोंका अवलंबन कर उत्पन्न होता है तो वह न नित्य है, न क्षायिक है और न सर्वगत -- समस्त पदार्थोंको जाननेवाला ही है। उत्तर पदार्थका आलंबन मिलनेपर पूर्व पदार्थके आलंबनसे होनेवाला ज्ञान नष्ट हो जाता है इसलिए वह नित्य नहीं हो सकता। ज्ञानावरण कर्मके क्षयसे प्रकट होनेवाला ज्ञान सदा उपयोगात्मक रहता है, उसमें क्रमवर्तित्व संभव नहीं है। यह क्रमवर्तित्व क्षायोपशमिक ज्ञानमें ही संभव है। इसी प्रकार जो ज्ञान क्रमवर्ती होता है वह समीप होता है। वह एक कालमें संसारके समस्त पदार्थोंको नहीं जान सकता है।।५०।।

आगे एक साथ प्रवृत्ति होनेसे ही ज्ञानमें सर्वगतपना सिद्ध होता है ऐसा निरूपण करते हैं -

---

१. तिक्कालिगे ज. वृ. । २. 'एको भावः सर्वभावस्वभावः सर्वे भात्रा एकभावस्वभावः। एको भावस्तत्त्वतो येन बुद्धः सर्वे भावास्तत्त्वतस्तेन बुद्धाः।।' ३. अट्ठे ज. वृ. । ४. खाइयं ज. वृ. ।५. सव्वगयं ज. वृ. ।

[१]तेक्कालणिच्चविसमं, सकलं सव्वत्थ संभवं चित्तं।
जुगवं जाणदि जोण्हं, अहो हि णाणस्स माहप्पं।।५१।।

जिनेंद्र भगवानका ज्ञान अतीतादि तीन कालोंसे सदा विषम, लोक-अलोकमें सर्वत्र विद्यमान, नानाजातिके समस्त पदार्थोंको एक साथ जानता है। निश्चयसे क्षायिक ज्ञानका विचित्र माहात्म्य है।।५१।।

आगे केवलीके ज्ञानक्रिया न होनेपर भी बंध नहीं होता है यह निरूपण करते हैं --

ण वि परिणमदि य गेण्हदि, उप्पज्जदि णेव तेसु अत्थेसु[२]।
जाणण्णवि ते आदा, अबंधगो तेण पण्णत्तो।।५२।।

केवलज्ञानी शुद्धात्मा चूँकि उन पदार्थोंको जानता हुआ भी उन रूप न परिणमन करता है, न उन्हें ग्रहण करता है और न उनमें उत्पन्न ही होता है, इसलिए वह अबंधक -- बंधरहित कहा गया है[३]।। ५२।।

इति ज्ञानाधिकारः

*

आगे ज्ञानसे अभिन्नरूप सुखका वर्णन करते हुए आचार्य महाराज ज्ञान और सुखमें कौनसा ज्ञान तथा सुख छोड़नेयोग्य है और कौनसा ज्ञान तथा सुख ग्रहण करनेयोग्य है? इसका विचार करते हैं --

[४]अत्थि अमुत्तं मुत्तं, अदिंदियं इंदियं च अत्थेसु।
णाणं च तथा सोक्खं, जं तेसु परं च तं णेयं।।५३।।

पदार्थोंके विषयमें जो ज्ञान अतींद्रिय होता है वह अमूर्तिक है और जो इंद्रियजन्य होता है वह मूर्तिक कहलाता है। इसी प्रकार अतींद्रिय और इंद्रियजन्य सुख भी क्रमशः अमूर्तिक तथा मूर्तिक होता है। इन दोनोंमें जो उत्कृष्ट है वही उपादेय है।

मूर्तिक ज्ञान और सुख क्षायोपशमिक उपयोग शक्तियों तथा क्षायोपशमिक इंद्रियोंसे उत्पन्न होता है अतः पराधीन होनेसे कादाचित्क है, क्रमसे प्रवृत्त होता है, प्रतिपक्षीसे सहित है, हानि-वृद्धिसे युक्त है

---

१. तिक्काल ज. वृ. । २. अट्ठेसु ज. वृ. ।

३. 'जीवन्नप्येष विश्वं युगपदपि भवद्भावि भूतं समस्तं, मोहाभावाद्यदात्मा परिणमति परं नैव निर्लूनकर्मा। तेनास्ते युक्त एव प्रसभविकसितज्ञप्तिविस्तारपीतज्ञेयाकारं त्रिलोकीं पृथगपृथगथ द्योतयन् ज्ञानमूर्तिः।।' ज. वृ. ।

४. 'तस्स णमाइं लोगो देवासुरमणुअरायसंबंधो।
णाणं च तधा सोक्खं जं तेसु परं च तं णेयं।।' ज. वृत्तावधिकः पाठः।

इसलिए हेय है और अमूर्तिक ज्ञान तथा सुख इससे विपरीत होनेके कारण उपादेय है।।५३।।

आगे अतींद्रिय सुखका कारण अतींद्रिय ज्ञान उपादेय है यह कहते हैं --

जं पेच्छदो अमुत्तं, मुत्तेसु अदिंदियं च पच्छण्णं।
सकलं सगं च इदरं, तं णाणं हवदि पच्चक्खं।।५४।।

देखनेवालेका जो ज्ञान अमूर्तिक द्रव्योंको तथा मूर्तिक द्रव्योंमें अतींद्रिय अर्थात् परमाणु आदिको एवं क्षेत्रांतरित कालांतरित आदि प्रच्छन्न पदार्थोंको इस प्रकार समस्त स्व और पर ज्ञेयको जानता है वह प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

अनंत सुखका अनुभावक होनेसे यह प्रत्यक्ष ज्ञान ही उपादेय है।।५४।।

आगे इंद्रिय सुखका कारण इंद्रियज्ञान हेय है इस प्रकार उसकी निंदा करते हैं --

जीवो सयं अमुत्तो, मुत्तिगदो तेण मुत्तिणा मुत्तं।
ओगिण्हित्ता जोग्गं, जाणदि वा तण्ण जाणादि।।५५।।

जीव निश्चयनयसे स्वयं अमूर्तिक है, परंतु व्यवहारसे मूर्ति अर्थात् शरीरमें स्थित हो रहा है। यह जीव द्रव्य तथा भाव इंद्रियोंके आधारभूत मूर्त शरीरके द्वारा ग्रहण करनेयोग्य मूर्त पदार्थको अवग्रह ईहा आदि क्रमसे जानता है और क्षयोपशमकी मंदता तथा उपयोगके अभावसे नहीं भी जानता है।

इंद्रियज्ञान यद्यपि व्यवहारसे प्रत्यक्ष कहा जाता है तथापि निश्चयनयसे केवलज्ञानकी अपेक्षा परोक्ष ही है। परोक्ष ज्ञान जितने सूक्ष्म अंशमें सूक्ष्म पदार्थको नहीं जानता है उतने अंशमें चित्तके खेदका कारण होता है और खेद ही दुःख है। अतः दुःखका जनक होनेसे इंद्रियज्ञान हेय है -- छोड़नेयोग्य है।।५५।।

आगे इंद्रियोंकी अपने विषयमें भी प्रवृत्ति होना एक साथ संभव नहीं है इसलिए इंद्रियज्ञान हेय है यह कहते हैं --

फासो रसो य गंधो, वण्णो सद्दो य पुग्गला होंति।
अक्खाणिं ते अक्खा, जुगवं ते णेव गेण्हंति।।५६।।

स्पर्श रस गंध वर्ण और शब्द ये पुद्गल ही इंद्रियोंके विषय हैं सो उन्हें भी ये इंद्रियाँ एक साथ ग्रहण नहीं करती हैं।

जिस प्रकार सब तरहसे उपादेय भूत अनंत सुखका कारणभूत केवलज्ञान एक साथ समस्त पदार्थोंको जानता हुआ सुखका कारण होता है उस प्रकार यह इंद्रियज्ञान अपने योग्य विषयोंका भी युगपत् ज्ञान न होनेसे सुखका कारण नहीं है।।५६।।

आगे इंद्रियज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है ऐसा निश्चय करते हैं --

परदव्वं ते अक्खा, णेव सहावोत्ति अप्पणो भणिदा।
उवलद्धं तेहि कहं, पच्चक्खं अप्पणो होदि।।५७।।

वे इंद्रियाँ चूँकि आत्माका स्वभाव नहीं है इसलिए पर द्रव्य कही गयी हैं, फिर उन इंद्रियोंके द्वारा ग्रहण किया हुआ पदार्थ आत्माके प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है?

आगे परोक्ष और प्रत्यक्षका लक्षण प्रकट करते हैं --

जं परदो विण्णाणं, तं तु परोक्खत्ति भणिदमत्थेसु।
जदि केवलेण णादं, हवदि हि जीवेण पच्चक्खं।।५८।।

पदार्थविषयक जो ज्ञान परकी सहायतासे होता है वह परोक्ष कहलाता है और जो ज्ञान केवल आत्माके द्वारा जाना जाता है वह प्रत्यक्ष कहा जाता है।।५८।।

आगे यही प्रत्यक्ष ज्ञान निश्चय सुख है ऐसा अभेद दिखलाते हैं --

जादं सयं समत्तं, णाणमणंतत्थवित्थिदं[१] विमलं।
रहिदं तु [२]उग्गहादिहि, सुहत्ति [३]एयंतियं भणिदं[४]।।५९।।

जो स्वयं उत्पन्न हुआ है, परिपूर्ण है, अनंत पदार्थोंमें विस्तृत है, निर्मल है और अवग्रह आदि क्रमसे रहित है ऐसा ज्ञान ही निश्चय सुख है ऐसा कहा गया है।।५९।।

आगे अनेक पदार्थोंको जानने के कारण केवलज्ञानीको खेद होता होगा इस पूर्व प्रश्नका निराकरण करते हैं --

जं केवलत्ति णाणं, तं सोक्खं परिणमं च सो चेव।
खेदो तस्स ण भणिदो[५], तम्हा घादी[६] खयं जादा।।६०।।

जो केवल इस नामवाला ज्ञान है वह सुख है और वही सुख सबके जाननेरूप परिणाम है। उस केवलज्ञानके खेद नहीं कहा गया है। क्योंकि घातिया कर्म क्षयको प्राप्त हुए हैं।

खेदके स्थान ज्ञानावरणादि घातिया कर्म हैं। चूँकि केवलज्ञानीके इनका क्षय हो चुकता है अतः उनका केवलज्ञान आकुलता रूप खेदसे सर्वथा रहित होता है।।६०।।

आगे फिर भी केवलज्ञानको सुखरूप दिखलाते हैं --

णाणं अत्थंतगदं, लोगा[७]लोगेसु वित्थडा दिट्ठी।
णट्ठमणिट्ठं सव्वं, इट्ठं पुण जं तं तु[८] तं लद्धं।।६१।।

केवलज्ञानीके ज्ञान पदार्थोंके अंतको प्राप्त है अर्थात् अनंत पदार्थोंको जाननेवाला है, उनकी दृष्टि

१. विथडं, ज. वृ. । २. ओग्गहादिहिं, ज. वृ. । ३. एगंतियं, ज. वृ. । ४. भणियं ज. वृ. ।
५. भणिओ, ज. वृ. । ६. घादिक्खयं, ज. वृ. । ७. लोयालोयेसु ८. हि ज. वृ. ।

अर्थात् केवलदर्शन लोक-अलोकमें विस्तृत है, समस्त अनिष्ट नष्ट हो चुकते हैं और जो इष्ट होता है वह उन्हें प्राप्त हो चुकता है। इस प्रकार केवलज्ञान सुखरूप होता है।।६१।।

आगे केवलज्ञानियोंके ही पारमार्थिक सुख है ऐसी श्रद्धा करते हैं --

ण हि सद्दहंति सोक्खं, सुहेसु परमंति विगदघादीणं
सुणिऊण[1] ते अभव्वा, भव्वा वा तं पडिच्छंति।।६२।।

जिनके घातिया कर्म नष्ट हो चुके हैं ऐसे केवली भगवान्का सुख सब सुखोंमें उत्कृष्ट है ऐसा सुनकर जो श्रद्धान नहीं करते वे अभव्य हैं और जो श्रद्धान करते हैं वे भव्य हैं[2]।६२।।

आगे परोक्ष ज्ञानियोंके जो इंद्रियजन्य सुख होता है वह अपारमार्थिक है ऐसा कहते हैं --

मणुआसुरामरिंदा, अहिद्दुआ[3] इंदिएहिं सहजेहिं।
असहंता तं दुक्खं, रमंति विसएसु रम्मेसु।।६३।।

सहजोत्पन्न इंद्रियोंसे पीड़ित मनुष्य, धरणेंद्र और देवोंके इंद्र -- स्वामी उस इंद्रियजन्य दुःखको न सहते हुए रमणीक विषयोंमें क्रीड़ा करते हैं।।६३।।

आगे जितनी इंद्रियाँ हैं वे स्वभावसे ही दुःखरूप हैं ऐसा विचार करते हैं --

जेसिं विषयेसु [4]रदी, तेसिं दुक्खं वियाण सब्भावं।
जदि[5] तं ण हि सब्भावं, वावारो णत्थि विसयत्थं।।६४।।

जिन जीवोंकी विषयोंमें प्रीति है उनके दुःख स्वभावसे ही जानो, क्योंकि यदि वह दुःख उनके स्वभावसे उत्पन्न हुआ नहीं होता तो विषयोंके लिए उनका व्यापार नहीं होता।

जिस प्रकार व्याधिसे पीड़ित मनुष्योंका औषधिके लिए व्यापार होता है उसी प्रकार इंद्रियोंसे पीड़ित मनुष्योंका विषयोंके लिए व्यापार होता है। मनुष्य अनुकूल विषय पानेके लिए निरंतर व्याकुल रहते हैं, इससे विदित होता है कि वे इंद्रियजन्य दुःखको सहन नहीं कर सकते हैं।।६४।।

आगे मुक्तात्माओंको शरीरके बिना भी सुख है इसलिए शरीर सुखका साधन नहीं है यह कहते हैं --

पय्या इट्ठे विसये, फासेहिं समस्सिदे सहावेण।
परिणममाणो अप्पा, सयमेव सुहं ण हवदि देहो।।६५।।

---

१. सुणिदूण ज. वृ.।

२. समसुखशीलितमनसां च्यवनमपि द्वेषमेति किमु कामाः।
स्थलमपि दहति झषाणां किमङ्ग पुनरङ्गमङ्गाराः।। ज. वृ.।

३. अहिद्दुदा ज. वृ.। ४. रई ज. वृ.। ५. जइ ज. वृ.।

स्पर्शनादि इंद्रियोंके द्वारा इष्ट विषयोंको पाकर अशुद्ध ज्ञानदर्शनस्वरूप स्वभावसे परिणमन करनेवाला आत्मा ही स्वयं सुखरूप होता है, शरीर नहीं।

सुख चेतनका गुण है इसलिए वह उसीमें व्यक्त होता है, शरीर जड़ पदार्थ है इसलिए उसमें नहीं पाया जाता है।।६५।।

आगे इसीका समर्थन करते हैं --

एदंतेण हि देहो, सुहं ण देहिस्स कुणइ सग्गे वा।
विसयवसेण दु सोक्खं, दुक्खं वा हवदि सयमादा।।६६।।

यह निश्चय है कि शरीर आत्माको स्वर्गमें भी सुखरूप नहीं करता किंतु यह आत्मा ही विषयोंके वश स्वयं सुख अथवा दुःखरूप हो जाता है।।६६।।

आगे आत्मा स्वयं ही सुखस्वरूप है इसलिए जिस प्रकार देह सुखका कारण नहीं है उसी प्रकार पंचेंद्रियोंके विषय भी सुखके कारण नहीं हैं ऐसा कहते हैं --

तिमिरहरा जइ दिट्ठी, जणस्स दीवेण णत्थि [1]कादव्वं।
तध सोक्खं सयमादा, विसया किं तत्थ कुव्वंति।।६७।।

यदि किसी मनुष्यकी दृष्टि अंधकारको नष्ट करनेवाली है तो जिस प्रकार उसे दीपकसे कुछ कार्य नहीं होता उसी प्रकार आत्मा यदि स्वयं सुखरूप होती है तो उसमें पंचेंद्रियोंके विषय क्या करते हैं? अर्थात् कुछ नहीं।।६७।।

आगे ज्ञान और सुख आत्माका स्वभाव है यह दृष्टांत से सिद्ध करते हैं --

सयमेव जधादिच्चो, तेजो उण्हो य देवदा णभसि।
सिद्धो वि तधा णाणं, सुहं च लोगे तधा देवो।।६८।।[2]

जिस प्रकार आकाशमें सूर्य स्वयं तेजरूप है, उष्ण है और देवगति नामकर्मका उदय होनेसे देव है उसी प्रकार सिद्ध भगवान भी इस जगत्में ज्ञानरूप हैं, सुखरूप हैं और देवरूप हैं।।६८।।

इत्यानन्दाधिकारः

*

---

१. कायव्वं

२. ६८ वीं गाथाके आगे जयसेन वृत्तिमें निम्नलिखित दो गाथाएँ अधिक व्याख्यात हैं --

'तेजो दिट्ठी णाणं इड्ढी सोक्खं तहेव ईसरियं।
तिहुवणपहाणदइयं माहप्पं जस्स सो अरिहो।।१।।
तं गुणदो अधिगदरं अविच्छिदं मणुवदेवपदिभावं।
अपणब्भावणिबद्धं पणमामि पुणो पुणो सिद्धं'।।२।।

आगे विषयजन्य सुखके स्वरूपका विचार प्रारंभ करते हुए आचार्य महाराज सर्वप्रथम उसके साधनभूत शुभोपयोगका वर्णन करते हैं --

देवदजदिगुरुपूजासु चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु।

उववासादिसु रत्तो, सुहोवओगप्पगो अप्पा।।६९।।

जो आत्मा देव,यति, गुरुकी पूजामें, दानमें, गुणव्रत महाव्रतरूप उत्तम शीलोंमें और उपवासादि शुभ कार्योंमें लीन रहता है वह शुभोपयोगी कहलाता है।।६९।।

आगे इंद्रियजन्य सुख शुभोपयोगके द्वारा साध्य है ऐसा कहते हैं --

जुत्तो सुहेण आदा, तिरियो वा माणुसो व देवो वा।

भूदो तावदि कालं, लहदि सुहं इंदियं तिविहं।।७०।।

जो आत्मा शुभोपयोगसे सहित है वह तिर्यंच, मनुष्य अथवा देव होकर उतने समय तक इंद्रियजन्य विविध सुखोंको पाता है।।७०।।

आगे इंद्रियजन्य सुख यथार्थमें दुःख ही है ऐसा कहते हैं --

सोक्खं सहावसिद्धं, णत्थि सुराणंपि सिद्धमुवदेसे।

ते देहवेदणट्टा, रमंति विसएसु रम्मेसु।।७१।।

अन्यकी बात जाने दो, देवोंके भी स्वभावजन्य सुख नहीं है ऐसा जिनेंद्र भगवानके उपदेशमें युक्तियोंसे सिद्ध है। वास्तवमें वे शरीरको वेदनासे पीड़ित होकर रमणीय विषयोंमें रमण करते हैं।।७१।।

आगे शुभोपयोग और अशुभोपयोगमें समानता सिद्ध करते हैं --

णरणारयतिरियसुरा, भजंति जदि देहसंभवं दुक्खं।

किध सो सुहो व असुहो, उवओगो हवदि जीवाणं।।७२।।

जबकि मनुष्य नारकी तिर्यंच और देव -- चारों ही गतिके जीव शरीरसे उत्पन्न होनेवाला दुःख भोगते हैं तब जीवोंका वह उपयोग शुभ अथवा अशुभ कैसे हो सकता है?

इंद्रियजन्य दुःखोंका कारण होनेसे शुभोपयोग और अशुभोपयोग समान ही है, निश्चयसे इनमें कुछ अंतर नहीं है।।७२।।

आगे शुभोपयोगसे उत्पन्न हुए फलवान पुण्यको विशेष रूपसे दोषाधायक मानकर उसका निषेध करते हैं --

कुलिसाउहचक्कधरा, सुहोवओगप्पगेहिं भोगेहिं।

देहादीणं विद्धिं, करेंति सुहिदा इवाभिरदा।।७३।।

इंद्र तथा चक्रवर्ती सुखियोंके समान लीन हुए शुभोपयोगात्मक भोगोंसे शरीर आदिकी ही वृद्धि

करते हैं।

शुभोपयोगका उत्तम फल देवोंमें इंद्रको और मनुष्योंमें चक्रवर्तीको ही प्राप्त होता है, परंतु उस फलसे वे अपने शरीरको ही पुष्ट करते हैं, न कि आत्माको। वे वास्तवमें दुःखी ही रहते हैं, परंतु बाह्यमें सुखियोंके समान मालूम होते हैं।।७३।।

आगे शुभोपयोगजन्य पुण्य भी दुःखका कारण है यह प्रकट करते हैं --

जदि संति हि पुण्णाणि य, परिणामसमुब्भवाणि विविहाणि।
जणयंति विसयतण्हं, जीवाणं देवदंताणं।।७४।।

यह ठीक है कि शुभोपयोगरूप परिणामोंसे उत्पन्न होनेवाले अनेक प्रकारके पुण्य विद्यमान रहते हैं परंतु वे देवों तक समस्त जीवोंकी विषयतृष्णा ही उत्पन्न करते हैं।

शुभोपयोगके फलस्वरूप अनेक भोगोपभोगोंकी सामग्री उपलब्ध होती है उससे समस्त जीवोंकी विषयतृष्णा ही बढ़ती है इसलिए शुभोपयोगको अच्छा कैसे कहा जा सकता है?।।७४।।

आगे पुण्यको दुःखका बीज प्रकट करते हैं --

ते पुण उदिण्णतण्हा, दुहिदा तण्हाहि विसयसोक्खाणि।
इच्छंति अणुहवंति य, आमरणं दुक्खसंतत्ता।।७५।।

फिर, जिन्हें तृष्णा उत्पन्न हुई है ऐसे समस्त संसारी जीव तृष्णाओंसे दुःखी और दुःखोंसे संतप्त होते हुए विषयजन्य सुखोंकी इच्छा करते हैं और मरणपर्यंत उन्हींका अनुभव करते रहते हैं।

विषयजन्य सुखोंसे तृष्णा बढ़ती है और तृष्णा ही दुःखका प्रमुख कारण है। अतः शुभोपयोग के फलस्वरूप प्राप्त होनेवाले विषयसुख हेय हैं -- छोड़नेयोग्य हैं।।७५।।

आगे फिर भी पुण्यजनित सुखको बहुत प्रकारसे दुःखरूप वर्णन करते हैं --

सपरं बाधासहिदं[१], विच्छिण्णं बंधकारणं विसयं।
जं इंदियेहिं लद्धं, तं सोक्खं दुक्खमेव तधा[२]।। ७६।।

शुभोपयोगसे पुण्य होता है और पुण्यसे इंद्रियजन्य सुख मिलता है परंतु यथार्थमें विचार करनेपर वह इंद्रियजन्य सुख दुःखरूप ही मालूम होता है।।७६।।

आगे पुण्य और पापमें समानता है यह निश्चय करते हुए इस कथनका उपसंहार करते हैं -

ण हि मण्णदि जो एवं, णत्थि विसेसोत्ति पुण्णपावाणं।
हिंडदि घोरमपारं, संसारं मोहसंछण्णो।।७७।।

---

१. सहियं ज. वृ. । २. तहा ज. वृ. ।

'पुण्य और पापमें विशेषता नहीं है' ऐसा जो नहीं मानता है वह मोहसे आच्छादित होता हुआ भयानक और अंतरहित संसारमें भटकता रहता है।।७७।।

आगे जो पुरुष शुभोपयोग और अशुभोपयोगको समान मानता हुआ समस्त रागद्वेषको छोड़ता है वही शुद्धोपयोगको प्राप्त होता है ऐसा कथन करते हैं --

एवं विदिदत्थो जो, दव्वेसु ण रागमेदि दोसं वा।
उवओगविसुद्धो सो, खवेदि देहुब्भवं दुक्खं।।७८।।

इस प्रकार पदार्थके यथार्थ स्वरूपको जाननेवाला जो पुरुष परद्रव्योंमें राग और द्वेष भावको प्राप्त नहीं होता है वह उपयोगसे विशुद्ध होता हुआ शरीरजन्य दुःखको नष्ट करता है।

सांसारिक सुख-दुःखका अनुभव राग-द्वेषसे होता है और चूँकि शुद्धोपयोगी जीवके वह अत्यंत मंद अथवा विनष्ट हो चुकते हैं इसलिए उसके शरीरजन्य दुःखका अनुभव नहीं होता है।।७८।।

आगे मोहादिका उन्मूलन किये बिना शुद्धताका लाभ कैसे हो सकता है? यह कहते हैं --

चत्ता पावारंभं, समुट्ठिदो वा सुइम्मि चरियम्मि[१]।
ण जहदि मोहादी ण, लहदि सो अप्पगं सुद्धं[२]।।७९।।

पापारंभको छोड़कर शुभ आचरणमें प्रवृत्त हुआ पुरुष यदि मोह आदिको नहीं छोड़ता है तो वह शुद्ध आत्माको नहीं पाता है।।

अशुभोपयोगको छोड़कर शुभोपयोगमें प्रवृत्त हुआ पुरुष जब मोह राग द्वेष आदिका त्याग करता है, अर्थात् शुद्धोपयोगको प्राप्त होता है तभी कर्ममल कलंकसे रहित शुद्ध आत्मस्वरूपको प्राप्त होता है। अन्यथा नहीं।।७९।।

आगे मोहके नाशका उपाय प्रकट करते हैं --

जो जाणदि अरहंतं, दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं, मोहो खलु [३]जादि तस्स लयं।।८०।।

जो पुरुष द्रव्य, गुण और पर्यायोंके द्वारा अरहंत भगवानको जानता है वही आत्माको जानता है

---

१. चरियम्हि, ज. वृ. ।

२. ७९ वीं गाथाके आगे जयसेन वृत्तिमें निम्नांकित दो गाथाएँ अधिक उपलब्ध हैं --

'तवसंजमप्पसिद्धो सुद्धो सग्गापवग्गमग्गकरो।
अमरासुरिंदमहिदो देवो सो लोयसिहरत्थो।।'
'तं देवदेवदेवं जदिवरवसहं गुरुं तिलोयस्स।
पणमंति जे मणुस्सा ते सोक्खं अक्खयं जंति।।' ज. वृ. ।

३. जाइ ज. वृ.।

और निश्चयसे उसीका मोह विनाशको प्राप्त होता है।

अरहंत भगवानका जैसा स्वरूप है निश्चय नयसे आत्माका भी वैसा स्वरूप है, अतः अरहंतके ज्ञानसे आत्माका ज्ञान स्वभावसिद्ध है। जिस पुरुषको सौ टंचके सुवर्णके समान शुद्ध आत्मस्वरूपका बोध हो गया है उसका मोह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।।८०।।

आगे यद्यपि मैंने स्वरूपचिंतामणि पाया है तो भी प्रमादरूपी चोर विद्यमान हैं इसलिए जागता हूँ यह कहते हैं --

जीवो ववगदमोहो, उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्मं।
जहदि जदि रागदोसे, सो अप्पाणं लहदि सुद्धं।।८१।।

जिसका दर्शनमोह नष्ट हो गया है ऐसा जीव आत्माके यथार्थ स्वरूपको जानने लगता है -- उसका अनुभव करने लगता है और वही जीव यदि राग-द्वेषको छोड़ देता है तो शुद्ध आत्मस्वरूपको प्राप्त होता है।

मिथ्यादर्शनके नष्ट होनेसे आत्माके यथार्थ स्वरूपका श्रद्धान और बोध हो जाता है तथा राग-द्वेषके छोड़नेसे शुद्ध आत्मतत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है। जिसका मिथ्यादर्शन नष्ट हो गया है ऐसे जीवको राग-द्वेषका नाश करनेके लिए सदा जागरूक रहना चाहिए, क्योंकि ये चोरोंकी भाँति शुद्धात्मतत्त्वरूपी चिंतामणिको चुरानेमें सदा प्रयत्नशील रहते हैं।।८१।।

आगे भगवान अरहंत देवने स्वयं अनुभव कर यही मोक्षका वास्तविक मार्ग बतलाया है ऐसा निरूपण करते हैं --

[१]सव्वेपि य अरहंता, तेण विधाणेण खविदकम्मंसा।
किच्चा तधोवएसं, णिव्वादा ते णमो तेसिं।।८२।।

सभी अरहंत भगवान् उस पूर्वोक्त विधिसे ही कर्मोंके अंशोंका क्षय कर तथा उसी प्रकारका उपदेश देकर निर्वाणको प्राप्त हुए हैं। मेरा उन सबके लिए नमस्कार है[२]।।८२।।

आगे शुद्धात्मलाभके विरोधी मोहका स्वभाव और उसकी भूमिका का वर्णन करते हैं --

दव्वादिएसु मूढो, भावो जीवस्स हवदि मोहोत्ति।
खुब्भदि तेणोछण्णो[३], पय्या रागं व दोसं वा।।८३।।

१. सव्वेवि ज. वृ.।

२. ८२ वीं गाथाके आगे ज. वृ. में निम्न गाथा अधिक व्याख्यात है --

दंसणसुद्धा पुरिसा णाणपहाणा समग्गचरियत्था।
पूजासक्काररिहा दाणस्स य हि णमो तेसिं।। ज. वृ.।

३. तेणुच्छण्णो ज. वृ.।

द्रव्य और गुण पर्यायमें विपरीताभिनिवेशको प्राप्त हुआ जीवका जो वह भाव है वह मोह कहलाता है। उस मोहसे आच्छादित हुआ जीव राग और द्वेषको पाकर क्षुभित होने लगता है।

मोह राग और द्वेष यह तीन प्रकारका मोह ही शुद्धात्मलाभका परिपंथी है -- विरोधी है।।८३।।

आगे बंधके कारण होनेसे मोह राग और द्वेष नष्ट करने योग्य हैं ऐसा कहते हैं --

मोहेण व रागेण व, दोसेण व परिणदस्स जीवस्स।
जायदि विविहो बंधो, तम्हा ते संखवइदव्वा।।८४।।

मोह राग और द्वेषसे परिणत जीवके विविध प्रकारका बंध होता है इसलिए वे सम्यक् प्रकारसे क्षय करनेके योग्य है।।

बंधका कारण त्रिविध मोह ही है, अतः मोक्षाभिलाषी जीवको उसका क्षय करना चाहिए।।८४।।

आगे मोहके लिंग (चिह्न) बतलाते हैं, इन्हें जानकर उत्पन्न होते ही नष्ट कर देना चाहिए ऐसा कहते हैं --

अट्ठे अजधागहणं, करुणाभावो य तिरियमणुएसु।
विसएसु अप्पसंगो, मोहस्सेदाणि लिंगाणि।।८५।।

पदार्थोंका अन्यथा ज्ञान, तिर्यंच और मनुष्योंपर करुणाभाव तथा इंद्रियोंके विषयोंमें आसक्ति ये मोहके चिह्न हैं।

इन प्रवृत्तियोंसे मोहके अस्तित्वका ज्ञान होता है।।८५।।

आगे मोहका क्षय करनेके लिए अन्य उपायका विचार करते हैं --

जिणसत्थादो अट्ठे, पच्चक्खादीहिं बुज्झदो णियमा।
खीयदि मोहोवचयो, तम्हा सत्थं [1]समधिदव्वं।।८६।।

प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके द्वारा जिनेंद्रप्रणीत शास्त्रसे पदार्थोंको जाननेवाले पुरुषका मोहका समूह नियमसे नष्ट हो जाता है इसलिए शास्त्रका अध्ययन करना चाहिए।।८६।।

आगे जिनेंद्र भगवान्के द्वारा कहे हुए शब्दब्रह्ममें पदार्थोंकी व्यवस्था किस प्रकार है? इसका निरूपण करते हैं --

दव्वाणि गुणा तेसिं, पज्जाया अट्ठसण्णया भणिया।
तेसु गुणपज्जयाणं, अप्पा दव्वत्ति उवदेसो।।८७।।

द्रव्य और गुणके पर्याय अर्थ नामसे कहे गये हैं, इन तीनोंमें गुण और पर्यायोंका जो स्वभाव है वही

---

१. समहिदव्वं ज. वृ.।

द्रव्य कहलाता है ऐसा उपदेश है।

गुण और पर्याय द्रव्यसे अपृथग्भूत हैं इसलिए इनका स्वभाव ही द्रव्य है ऐसा अभेदविवक्षासे कहा गया है।।८७।।

आगे मोहक्षयमें कारणभूत जिनेंद्रका उपदेश मिलनेपर भी पुरुषार्थ कार्यकारी है इसलिए उसकी प्रेरणा करते हैं --

जो मोहरागदोसे, णिहणदि उवलद्ध जोण्हमुवदेसं।
सो सव्वदुक्खमोक्खं, पावदि अचिरेण कालेण।।८८।।

जो पुरुष जिनेंद्र भगवान्का उपदेश पाकर मोह राग द्वेषको नष्ट करता है वह थोड़े ही समयमें समस्त दुःखोंसे छुटकारा पा जाता है।।८८।।

आगे स्वपरका भेदविज्ञान होनेसे ही मोहका क्षय होता है, इसलिए स्वपरका भेदविज्ञान प्राप्त करनेके लिए यत्न करते हैं --

णाणप्पगमप्पाणं, परं च दव्वत्तणाहिसंबद्धं।
जाणदि यदि णिच्छयदो, जो सो मोहक्खयं कुणदि।।८९।।

जो पुरुष निश्चयसे ज्ञानमय आत्माको स्वकीय द्रव्यत्वसे और शरीरादि पर पदार्थको परकीय द्रव्यत्वसे अभिसंबद्ध जानता है वह मोहका क्षय करता है।

मोहका क्षय स्वपर भेदविज्ञानसे ही होता है।।८९।।

आगे स्वपर भेदकी सिद्धि आगमसे करनी चाहिए ऐसा उपदेश देते हैं --

तम्हा जिणमग्गादो, गुणेहिं आदं परं च दव्वेसु।
अभिगच्छदु णिम्मोहं, इच्छदि जदि अप्पणो अप्पा।।९०।।

इसलिए यदि यह जीव अपने आपके मोहाभावकी इच्छा करता है तो उसे चाहिए कि वह जिनमार्गसे अर्थात् जिनेंद्रप्रणीत आगमसे विशेष गुणोंके द्वारा समस्त द्रव्योंमें निज और परको पहिचाने।

गुण दो प्रकारके हैं -- सामान्य और विशेष। जो समस्त द्रव्योंमें समान रूपसे पाये जायें वे सामान्य गुण हैं। जैसे अस्तित्व, वस्तुत्व आदि और जो खास द्रव्योंमें पाये जायें वे विशेष गुण हैं। जैसे ज्ञान दर्शन तथा रूप रस गंध स्पर्श आदि। इनमेंसे सामान्य गुणोंके द्वारा किसी द्रव्यका पार्थक्य सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि वे समान रूपसे सबमें पाये जाते हैं। पार्थक्य ज्ञान दर्शनादि विशेष गुणोंसे ही सिद्ध हो सकता है। इसलिए जो जीव यह चाहता है कि हमारा आत्मा मोहसे रहित हो उसे विशेष गुणोंके द्वारा सर्वप्रथम निज और परका भेदविज्ञान प्राप्त करना चाहिए क्योंकि जब तक परसे भिन्न स्वद्रव्यके वास्तविक स्वरूपका बोध नहीं होगा तब तक उसकी प्राप्ति असंभव बनी रहती है।।९०।।

आगे जिनेंद्रप्रणीत पदार्थोंकी श्रद्धाके बिना धर्मका लाभ नहीं हो सकता यह कहते हैं --

सत्तासंबद्धेदे, सविसेसे जो हि णेव सामण्णे।

सद्दहदि ण सो समणो, तत्तो धम्मो णेव संभवदि।।९१।।

जो पुरुष श्रमण अवस्थामें स्थित होता हुआ सत्तासे संबद्ध अर्थात् सामान्य गुणोंसे युक्त और अपने अपने विशेष गुणोंसे सहित इन जीव-पुद्गलादि द्रव्योंका श्रद्धान नहीं करता है वह श्रमण नहीं है -- साधु नहीं है और उस पुरुषके शुद्धोपयोगरूप धर्मका होना संभव नहीं है।।९१।।

आगे मोहादिको नष्ट करनेवाला श्रमण ही धर्म है ऐसा निरूपण करते हैं --

जो णिहिदमोहदिट्ठी, आगमकुसलो विरागचरियम्मि।

अब्भुट्ठिदो महप्पा, धम्मोत्ति विसेसिदो समणो।।९२।।

जिसने दर्शनमोहका नाश कर दिया है, जो आगममें कुशल है, वीतराग चारित्रमें सावधान है और जिसका आत्मा रत्नत्रयके सद्भावसे महान है ऐसा श्रमण -- साधु धर्म है ऐसा कहा गया है।

सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको धर्म कहा गया है। यहाँ उनके आधारभूत श्रमणको आधार-आधेयके रूपमें अभेदविवक्षासे धर्म कह दिया है।।९२।।[१]

इति भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यकृते प्रवचनसारपरमागमे ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापनो नाम प्रथमः श्रुतस्कन्धः समाप्तः।

*

१ इसके आगे जयसेन वृत्तिमें निम्नांकित २ गाथाएँ अधिक व्याख्यात हैं --

'जो तं दिट्ठा तुट्ठो, अब्भुट्ठित्ता करेदि सक्कारं।
वंदणनमंसणादिहिं, तत्तो सो धम्ममादियदि।।'
'तेण णरा तिरिच्छा, देविं वा माणुसिं गदिं पप्या।
विहविस्सरियेहिं सया, संपुण्णमणोरहा होंति।।'

ज्ञेयतत्त्वाधिकारः

अब ज्ञेय तत्त्वका कथन करते हुए यह दिखलाते हैं कि ज्ञेय अर्थात् ज्ञानका विषयभूत पदार्थ द्रव्य गुण और पर्यायस्वरूप है --

[1]अत्थो खलु दव्वमओ, दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि।
तेहिं पुणो पज्जाया, पज्जयमूढा हि परसमया।।१।।

निश्चयसे पदार्थ द्रव्यरूप है। द्रव्य गुणस्वरूप कहे गये हैं। उन द्रव्य और गुणोंसे पर्याय उत्पन्न होते हैं और जो जीव उन पर्यायोंमें ही मूढ़ हैं अर्थात् उन्हें ही द्रव्य मानते हैं वे परसमय हैं -- मिथ्यादृष्टि हैं।

आगे स्वसमय और प्ररसमयकी व्यवस्था दिखलाते हैं --

जे पज्जयेसु णिरदा, जीवा परसमयिगत्ति णिद्दिट्ठा।
आदसहावम्मि ठिदा, ते सगसमया मुणेदव्वा।।२।।

जो जीव मनुष्यादि पर्यायोंमें निरत हैं अर्थात् उन्हें ही आत्मद्रव्य मानते हैं वे परसमय कहे गये हैं और जो आत्मस्वभावमें स्थित हैं अर्थात् शुद्ध ज्ञानदर्शनस्वरूप आत्माको अपना मानते हैं उन्हें स्वसमय मानना चाहिए।।२।।

अब द्रव्यका लक्षण कहते हैं --

अपरिच्चत्त सहावेणुप्पादव्वयधुवत्तसंबद्धं।
गुणवं च सपज्जायं, जत्तं दव्वत्ति वुच्चत्ति।।३।।

जो अपने स्वभावको न छोड़ता हुआ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे संबद्ध रहता है, गुणवान है और पर्यायोंसे सहित है उसे द्रव्य कहते हैं।।३।।

स्वभावका अर्थ अस्तित्व है, वह अस्तित्व स्वरूपास्तित्व और सादृश्यास्तित्व के भेदसे दो प्रकारका है। उनमेंसे स्वरूपास्तित्वका कथन करते हैं --

सब्भावो हि सहावो, गुणेहिं [5]सगपज्जएहिं चिंतेहिं।
दव्वस्स सव्वकालं, उप्पादव्वयधुवत्तेहिं।।४।।

गुणोंसे, विविध प्रकारकी पर्यायोंसे और उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्यसे द्रव्यका जो सदा सद्भाव रहता

---

१. इस गाथाके पूर्व जयसेन वृत्तिमें निम्नांकित गाथाका भी व्याख्यान किया गया है --

तम्हा तस्स णमाइं, किच्चा णिच्चंपि तं गणो होज्ज।
वोच्छामि संगहादो, परमट्ठविणिच्छयाधिगमं।।१।।

२. परसमयिगंति ज. वृ. । ३. अपरिचत्तसहावं ज. वृ। ४. जं तं ज. वृ। ५. सह ज. वृ. ।

है वही उसका स्वभाव है-- स्वरूपास्तित्व है।।४।।

अब सादृश्यास्तित्व का स्वरूप कहते हैं --

इह विविहलक्खणाणं, लक्खणमेगं सदित्ति सव्वगयं।
उवदिसदा खलु धम्मं, जिणवरवसहेण पण्णत्तं।।५।।

निश्चयसे इस लोकमें धर्मका उपदेश देनेवाले श्री वृषभ जिनेंद्रने कहा है कि भिन्न भिन्न लक्षणोंवाले द्रव्योंका 'सत्' यह एक व्यापक लक्षण है। समस्त द्रव्योंमें सामान्य रूपसे व्याप्त रहनेके कारण 'सत्' को सादृश्यास्तित्व कहते हैं।

स्वरूपास्तित्व विशेषलक्षणरूप है, क्योंकि उसके द्वारा प्रत्येक द्रव्यकी द्रव्यांतरसे पृथक् व्यवस्था सिद्ध होती है और सादृश्यास्तित्व सामान्यलक्षणरूप है, क्योंकि उसके द्वारा प्रत्येक द्रव्यकी पृथक् पृथक् सत्ता सिद्ध न होकर सबमें पायी जानेवाली समानताकी सिद्धि होती है। जिस प्रकार वृक्ष अपने अपने स्वरूपास्तित्वसे आम नीम आदि भेदोंसे अनेक प्रकारका है और सादृश्यास्तित्वसे वृक्षजातिकी अपेक्षा एक है उसी प्रकार द्रव्य अपने-अपने स्वरूपास्तित्वसे सत्की अपेक्षा सब एक हैं। स्वरूपास्तित्व विशिष्टग्राही है और सादृश्यास्तित्व सामान्यग्राही है।।५।।

आगे यह बतलाते हैं कि एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यसे आरंभ नहीं होता, वह स्वयं सिद्ध है और सत्ता द्रव्यसे अभिन्न है -- अपृथग्भूत है --

दव्वं सहावसिद्धं, सदिति जिणा तच्चदो समक्खादो।
सिद्धं तधे[1] आगमदो, णेच्छदि जो सो हि परसमओ।।६।।

प्रत्येक द्रव्य स्वभावसे सिद्ध है -- उसकी किसी दूसरे द्रव्यसे उत्पत्ति नहीं होती है तथा सत् स्वरूप है -- सत्तासे अभिन्न है ऐसा जिनेंद्र भगवान्ने यथार्थमें कहा है। जो पुरुष आगमसे उस प्रकार सिद्ध द्रव्यस्वरूपको नहीं मानता है वह परसमय है -- मिथ्यादृष्टि है।।६।।

अब बतलाते हैं कि उत्पादादि त्रयरूप होनेपर ही सत् द्रव्य होता है --

सदवट्ठियं सहावे, दव्वं दव्वस्स जो हि परिणामो।
अत्थेसु जो सहावो, ठिदिसंभवणाससंबद्धो।।७।।

स्वभावमें अवस्थित रहनेवाला सत् द्रव्य कहलाता है और गुणपर्यायरूप अर्थोंमें उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्यसे संबंध रखनेवाला द्रव्यका जो परिणमन है वह उसका स्वभाव है।

सत् द्रव्यका लक्षण अवश्य है, परंतु वह न केवल स्थितिरूप है -- ध्रौव्यात्मक है, अपितु उत्पाद तथा व्ययरूप भी है। इस प्रकार उत्पादादि त्रिलक्षण सत् ही द्रव्यका स्वरूप है।।७।।

---

१. तह ज. वृ.।

अब उत्पाद व्यय और ध्रौव्यके पारस्परिक अविनाभावको सुदृढ़ करते हैं अर्थात् इस बातका निरूपण करते हैं कि उक्त तीनों धर्म परस्पर एक-दूसरेको छोड़कर नहीं रह सकते --

ण भवो भंगविहीणो, भंगो वा णत्थि संभवविहीणो।
उप्पादो वि य भंगो, ण विणा धोव्वेण अत्थेण।।८।।

उत्पाद व्ययसे रहित नहीं होता, व्यय उत्पादसे रहित नहीं होता और उत्पाद तथा व्यय दोनों ही ध्रौव्य रूप पदार्थके बिना नहीं होते।

किसी भी द्रव्यमें नूतन पर्यायकी उत्पत्ति, उसकी पूर्व पर्यायके नाशके बिना नहीं हो सकती और पूर्व पर्यायका नाश नूतन पर्यायकी उत्पत्तिके बिना नहीं हो सकता तथा पूर्वोत्तर पर्यायोंमें एकता ध्रौव्यके बिना संभव नहीं हो सकती अतः उत्पादादि तीनों धर्म परस्परमें अविनाभूत हैं अर्थात् एक दूसरेके बिना नहीं हो सकते हैं।।८।।

आगे इस बातका निरूपण करते हैं कि उत्पादादि तीनों द्रव्यसे पृथक् नहीं हैं --

उप्पादट्ठिदिभंगा, विज्जंते पज्जएसु पज्जाया।
[१]दव्वं हि संति णियदं, तम्हा दव्वं हवदि सव्वं।।९।।

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पर्यायोंमें रहते हैं और पर्याय ही -- त्रिकालवर्ती अनेक पर्यायोंका समूह ही द्रव्य है अतः यह निश्चय है कि उत्पादादि सब द्रव्य ही हैं, उससे पृथक् द्रव्य नहीं है।।९।।

अब उत्पादादि में समय भेदको दूर कर द्रव्यपना सिद्ध करते हैं --

समवेदं खलु दव्वं, संभवठिदिणाससण्णिदट्ठेहिं।
एकम्मि चेव समये, तम्हा दव्वं खु तत्तिदयं।।१०।।

निश्चयसे द्रव्य, उत्पाद व्यय और ध्रौव्य नामक पदार्थोंसे समवेत है, एकमेक है, जुदा नहीं है और वह भी एक समयमें। अतः यह निश्चय है कि उत्पादादि तीनों पदार्थ द्रव्य स्वरूप हैं -- उससे भिन्न नहीं हैं।।१०।।

आगे अनेक द्रव्योंके संयोगसे होनेवाली पर्यायोंके द्वारसे द्रव्यमें उत्पादादिका विचार करते हैं --

पाडुब्भवदि य अण्णो, पज्जाओ पज्जओ वयदि अण्णो।
दव्वस्स तंपि दव्वं, णेव पणट्ठं ण उप्पण्णं।।११।।

---

१. यदि 'दव्वं हि' के स्थानपर 'दव्वम्हि' ऐसा सप्तम्यंत पाठ मान लिया जाय तो यह अर्थ हो सकता है कि उत्पाद व्यय और ध्रौव्य पर्यायोंमें विद्यमान हैं और पर्यायें द्रव्यमें विद्यमान हैं अतः यह सब द्रव्य ही हैं यह निश्चयपूर्वक कहा जाता है।

द्रव्यका अन्य पर्याय उत्पन्न होता है और अन्य पर्याय नष्ट होता है फिर भी द्रव्य न नष्ट ही हुआ है और न उत्पन्न ही।

संयोगसे उत्पन्न होनेवाले द्रव्यपर्याय दो प्रकारके हैं -- एक समानजातीय और दूसरा असमानजातीय। स्कंधकी द्व्यणुक, त्र्यणुक, चतुरणुक आदि पिंडपर्याय समानजातीय पर्याय हैं और जीव तथा पुद्गलके संबंधसे होनेवाले नर-नारकादि पर्याय असमानजातीय पर्याय हैं। किसी स्कंधमें त्र्यणुक पर्याय नष्ट होकर चतुरणुक पर्याय उत्पन्न हो गया, पर परमाणुओंकी अपेक्षा वह स्कंध न नष्ट ही हुआ है और न उत्पन्न ही। इसी प्रकार किसी जीवमें मनुष्य पर्याय नष्ट होकर देव पर्याय उत्पन्न हुआ पर जीवत्व सामान्यकी अपेक्षा वह जीव न नष्ट ही हुआ और न उत्पन्न ही। इससे सिद्ध होता है कि उत्पादादि तीनों द्रव्यरूप ही हैं, उससे पृथक् नहीं हैं।।११।।

अब एक द्रव्यके द्वारसे द्रव्यमें उत्पादादिका विचार करते हैं --

परिणमदि सयं दव्वं, गुणदो य गुणंतरं सदविसिट्ठं।
तम्हा गुणपज्जाया, भणिया पुण दव्वमेवत्ति।।१२।।

अपने स्वरूपास्तित्वसे अभिन्न द्रव्य स्वयं ही एक गुणसे अन्यगुण परिणमन करता है अतः गुण पर्याय द्रव्य इस नामसे ही कहे गये हैं।

एक द्रव्यसे आश्रित होनेवाले पर्याय गुणपर्याय कहलाते हैं जैसे कि आममें हरा रूप नष्ट होकर पीला रूप उत्पन्न हो गया, यहाँ हरा और पीला रूप आमके गुण पर्याय हैं। अथवा किसी जीवका ज्ञानगुण मतिज्ञानरूपसे नष्ट होकर श्रुतज्ञानरूप हो गया। यहाँ मतिज्ञान और श्रुतज्ञान जीवके गुणपर्याय हैं। जिस प्रकार हरे पीले रूपमें परिवर्तन होनेपर भी आम आम ही रहता है, अन्यरूप नहीं हो जाता है। अथवा मति-श्रुतज्ञानमें परिवर्तन होनेपर भी जीव जीव ही रहता है, अन्यरूप नहीं हो जाता उसी प्रकार संसारका प्रत्येक द्रव्य यद्यपि एक गुणसे अन्य गुणरूप परिणमन करता है परंतु वह स्वयं अन्यरूप नहीं हो जाता। इससे सिद्ध होता है कि गुण पर्याय द्रव्य ही हैं -- उससे भिन्न नहीं।।१२।।

अब सत्ता और द्रव्य अभिन्न हैं इस विषयमें युक्ति प्रदर्शित करते हैं --

ण हवदि जदि सद्दव्वं, असद्धुवं हवदि तं कधं दव्वं।
हवदि पुणो अण्णं वा, तम्हा दव्वं सयं सत्ता।।१३।।

यदि द्रव्य स्वयं सत् रूप न हो तो वह असत् रूप हो जायेगा और उस दशामें वह ध्रुवरूप -- नित्यरूप किस प्रकार हो सकेगा? द्रव्यमें जो ध्रुवता है वह सत् रूप होनेसे ही है। यदि द्रव्यको सत् रूप होनेसे ही है। यदि द्रव्यको सत् रूप नहीं माना जायेगा तो द्रव्यकी ध्रुवता नष्ट हो जायेगी अर्थात् द्रव्य ही नष्ट हो जायेगा। इसी प्रकार यदि सत्तासे द्रव्यको पृथक् माना जाये तो सत्ता गुण अनावश्यक हो जाता है।

सत्ताकी आवश्यकता द्रव्यका अस्तित्व सुरक्षित रखनेके लिए ही होती है। यदि सत्तासे पृथक् रहकर भी द्रव्यका अस्तित्व सुरक्षित रह सकता है तो फिर उस सत्ताके माननेकी आवश्यकता ही क्या है? इससे सिद्ध हो जाता है कि द्रव्य स्वयं सत्तारूप है।।१३।।

अब पृथक्त्व और अन्यत्वका लक्षण प्रकट करते हुए द्रव्य और सत्तामें विभिन्नता सिद्ध करते हैं --

पविभत्तपदेसत्तं, पुधत्तमिदि सासणं हि वीरस्स।
अण्णत्तमतब्भावो, ण तब्भवं भवदि कधमेगं।।१४।।

निश्चयसे श्री महावीर स्वामीका ऐसा उपदेश है कि प्रदेशोंका जुदा जुदा होना पृथक्त्व है और अन्य पदार्थका अन्यरूप नहीं होना अन्यत्व कहलाता है। जबकि सत्ता और द्रव्य परस्परमें अन्यरूप नहीं होते, गुण और गुणीके रूपमें जुदे-जुदे ही रहते हैं तब दोनों एक कैसे हो सकते है? अर्थात् नहीं हो सकते।

सत्ता गुण है और द्रव्य गुणी है। गुण-गुणीमें कभी भी भेद नहीं होता, इसलिए दोनोंमें पृथक्त्व नामका भेद न होनेसे एकता है -- अभिन्नता है, परंतु सत्ता सदा गुण ही रहेगा और द्रव्य गुणी ही। त्रिकालमें भी अन्यरूप नहीं होंगे इसलिए दोनोंमें अन्यभाव नामका भेद रहनेसे एकता नहीं है, अर्थात् भिन्नता है। सारांश यह हुआ कि द्रव्य और सत्तामें कथंचिद् भेद और कथंचिद् अभेद है।।१४।।

आगे असद्भावरूप अन्यत्वका लक्षण उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं --

सद्दव्वं सच्च गुणो, सच्चेव य पज्जओत्ति वित्थारो।
जो खलु तस्स अभावो, सो तदभावो अतब्भावो।।१५।।

सत्तारूप द्रव्य है, सत्तारूप गुण है और सत्तारूप ही पर्याय है। इस प्रकार सत्ताका द्रव्य गुण और पर्यायोंमें विस्तार है। निश्चयसे उसका जो परस्परमें अभाव है वह अभाव ही अतद्भाव है -- 'अन्यत्व' नामका भेद है।

जिस प्रकार एक मोतीकी माला हार सूत्र और मोती इन भेदोंसे तीन प्रकार है उसी प्रकार एक द्रव्य, द्रव्य गुण और पर्यायके भेदसे तीन प्रकार है। जिस प्रकार मोतीकी मालाका शुक्ल गुण, शुक्ल हार, शुक्ल सूत्र और शुक्ल मोती के भेदसे तीन प्रकार है उसी प्रकार द्रव्यका सत्तागुण, सत् द्रव्य, सत् गुण और सत् पर्यायके भेदसे तीन प्रकार है। जिस प्रकार भेद विवक्षासे मोतीकी मालाका शुक्ल गुण, हार नहीं है, सूत्र नहीं है और मोती नहीं है तथा हार सूत्र और मोती शुक्ल गुण नहीं है उसी प्रकार एक द्रव्यमें पाया जानेवाला सत्ता गुण, द्रव्य नहीं है, गुण नहीं है और पर्याय नहीं है तथा द्रव्य गुण और पर्याय भी सत्ता नहीं है। सबका परस्परमें अन्योन्याभाव है। यही अतद्भाव या अन्यत्व नामका भेद कहलाता है। सत्ता और द्रव्यके बीच यही अन्यत्व नामका भेद है।।१५।।

अब अतद्भाव सर्वथा अभावरूप है इसका निषेध करते हैं --

जं दव्वं तण्ण गुणो, जोवि गुणो सो ण तच्चमत्थादो।
एसो हि अतब्भावो, णेव अभावोत्ति णिद्दिट्ठो।।१६।।

जो द्रव्य है वह गुण नहीं है और जो गुण है वह यथार्थमें द्रव्य नहीं है। निश्चयसे यही अतद्भाव है -- अन्यत्व नामक भेद है। सर्वथा अभाव अतद्भाव नहीं है ऐसा कहा गया है।

द्रव्य और गुणमें सर्वथा अभाव माननेसे दोनोंका ही अस्तित्व सिद्ध नहीं होता अतः एकका अन्यरूप नहीं हो सकना ही अतद्भाव माना जाता है।।१६।।

आगे सत्ता और द्रव्यमें गुण-गुणी भाव सिद्ध करते हैं --

जो खलु दव्वसहावो, परिणामो सो गुणो सदविसिट्ठो।
सदवट्ठियं सहावे, दव्वत्ति जिणोवदेसोयं।।१७।।

निश्चयसे जो द्रव्यका स्वभावभूत उत्पादादित्रय रूप परिणाम है वह सत्तासे अभिन्न गुण है और निरंतर स्वभावमें अवस्थित रहनेवाला द्रव्य सत् है ऐसा श्री जिनेंद्र भगवान्‌का उपदेश है।

निरंतर स्वभावमें स्थित रहनेके कारण द्रव्य सत् कहलाता है और कालत्रयवर्ती द्रव्यका जो उत्पादादित्रयरूप परिणमन है वह उसका स्वभाव है। द्रव्यका स्वभाव सत्तासे अभिन्न तथा गुणस्वरूप है। द्रव्यमें सत्ता गुणकी प्रधानता है और सत्ता गुणमें द्रव्य रहता है, ऐसा व्यवहार होता है। इसी व्यवहारके कारण द्रव्यको सत् कहा है। इस सत्ता गुणसे सत् स्वरूप गुणी द्रव्यका भान होता है अतः सत्ता गुण है और द्रव्य गुणी है।।१७।।

अब गुण और गुणियोंमें नानापनका निराकरण करते हैं --

णत्थि गुणोत्ति व कोई, पज्जाओत्तीह वा विणा दव्वं।
दव्वत्तं पुण भावो, तम्हा दव्वं सयं सत्ता।।१८।।

इस संसारमें द्रव्यके बिना न कोई गुण है और न कोई पर्याय है। अर्थात् जितने भी गुण अथवा पर्याय हैं वे सब द्रव्यके आश्रय ही रहते हैं। और चूँकि द्रव्यका अस्तित्व उसका स्वभावभूत गुण है इसलिए द्रव्य स्वयं ही सत्तारूप है।

सारांश यह है कि जीवादि द्रव्य और उनके स्वभावभूत अस्तित्वादि गुण सर्वथा पृथक् पृथक् नहीं हैं।।१८।।

आगे सदुत्पाद और असदुत्पादमें अविरोध प्रकट करते हैं --

एवंविहे सहावे, दव्वं दव्वत्थपज्जयत्थेहिं।
सदसब्भावणिबद्धं, पाडुब्भावं सदा लभदि।।१९।।

इस प्रकारका द्रव्य, स्वभावमें द्रव्यार्थिक तथा पारमार्थिक नयोंकी विवक्षासे क्रमशः सत् और असत् इन दो भावोंसे संयुक्त उत्पादको सदा प्राप्त होता है।

जिस प्रकार क्रमसे होनेवाली कटक कुंडलादि पर्यायोंमें सुवर्ण पहलेसे ही विद्यमान रहता है नवीन नवीन उत्पन्न नहीं होता है। इसलिए उसका उत्पाद सदुत्पाद कहलाता है उसी प्रकार क्रमसे होनेवाली नर नारकादि पर्यायोंमें जीवादि द्रव्य पहले से ही विद्यमान रहता है, नवीन नवीन उत्पन्न नहीं होता है, इसलिए द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे उनका उत्पाद सदुत्पाद कहलाता है। और जिस प्रकार सुवर्णसे क्रमसे होनेवाली कटक कुंडलादि पर्यायें नयी उत्पन्न होती हैं, उसी प्रकार जीवादि द्रव्योंमें क्रमसे होनेवाली नर नारकादि पर्यायें नयी नयी ही उत्पन्न होती हैं, अतः पर्यायार्थिक नयसे उसका असदुत्पाद कहलाता है।।१९।।

अब द्रव्यार्थिक नयसे जिस सदुत्पादका वर्णन किया है उसीका पुनः समर्थन करते हैं --

जीवो भवं भविस्सदि, णरोऽमरो वा परो भवीय पुणो।
किं दव्वत्तं पजहदि, ण जहं अण्णो कहं होदि।।२०।।

जीवद्रव्य परिणमन करता हुआ देव अथवा अन्य कुछ रूप होगा सो तद्रूप होकर क्या अपनी द्रव्यत्व शक्तिको -- जीवत्व भावको छोड़ देता है? यदि नहीं छोड़ता है तो अन्यरूप कैसे हो सकता है?

कालक्रमसे द्रव्यमें अनंत पर्यायें उत्पन्न होती हैं, परंतु वे अन्वय शक्तिसे साथमें लगे हुए द्रव्यत्वभावको नहीं छोड़ते हैं अतः द्रव्यत्व भावकी अपेक्षा उन अनंत पर्यायोंका उत्पाद सदुत्पाद ही कहलाता है।।२०।।

अब पर्यायार्थिक नयसे द्रव्यमें स्थित जिस असदुत्पादका वर्णन किया उसका समर्थन करते हैं --

मणुओ ण होदि देवो, देवा वा माणुसो व सिद्धो वा।
एवं अहोज्जमाणो, अणण्णभावं कधं लहदि।।२१।।

जो मनुष्य है वह उस समय देव नहीं है और जो देव है वह उस समय मनुष्य अथवा सिद्ध नहीं है, क्योंकि एक द्रव्यकी एक कालमें एक ही पर्याय हो सकती है। इस प्रकार देवादि रूप नहीं होनेवाला मनुष्यादि, परस्परमें अभिन्न भावको किस प्रकार प्राप्त हो सकता है?

पर्याय क्रमवर्ती होता है अतः पूर्व पर्यायमें उत्तर पर्यायका और उत्तर पर्यायमें पूर्व पर्यायका अभाव सुनिश्चित रहता है और यही कारण है कि उत्तर क्षणमें होनेवाली पर्यायका उत्पाद असदुत्पाद कहलाता है। यह कथन पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा है।।२१।।

अब एक ही द्रव्यमें अन्यत्वभाव और अनन्यत्वभाव ये दो परस्परविरोधी भाव किस तरह रहते हैं इसका वर्णन करते हैं --

दव्वट्ठिएण सव्वं, दव्वं तं पज्जयट्ठिएण पुणो।
हवदि य अण्णमणण्णं, तक्कालं तम्मयत्तादो।।२२।।

द्रव्यार्थिक नयकी विवक्षासे सभी द्रव्य -- द्रव्यकी समस्त पर्यायें अन्य नहीं हैं और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे अन्य हैं, क्योंकि उस समय वे उसी पर्यायरूप हो जाती हैं।

द्रव्यार्थिक नय अन्वयग्राही है और पर्यायार्थिक नय व्यतिरेकग्राही। द्रव्यार्थिक नय कालक्रमसे होनेवाली अनंत पर्यायोंमें अन्वयको ग्रहण करता है और इसलिए उसकी अपेक्षासे उन समस्त पर्यायोंमें अन्यत्वभाव सिद्ध होता है और पर्यायार्थिक नय कालक्रमसे होनेवाली अनंत पर्यायोंमें व्यतिरेकको ग्रहण करता है इसलिए उसकी अपेक्षा उन समस्त पर्यायोंमें अन्यत्व भाव सिद्ध होता है। सारांश यह है कि नय विवक्षासे एक ही द्रव्यमें दो परस्परविरोधी भाव सिद्ध हो जाते हैं।।२२।।

अब सब प्रकारका विरोध दूर करनेवाली सप्तभंगी वाणीका अवतार करते हैं --

अत्थित्ति य णत्थित्ति य, हवदि अवत्तव्वमिदि पुणो दव्वं।
पज्जाएण दु केणवि, तदुभयमादिट्ठमण्णं वा।।२३।।

द्रव्य किसी एक पर्यायसे अस्तिरूप है, किसी एक पर्यायकी अपेक्षा नास्तिरूप है, किसी एक पर्यायसे अवक्तव्य है, किसी एक पर्यायसे अस्तिनास्तिरूप है और किन्हीं अन्य पर्यायोंसे अन्य तीन भंगस्वरूप कहा गया है।

संसारके किसी भी पदार्थमें मुख्य रूपसे तीन धर्म पाये जाते हैं -- एक विधि, दूसरा निषेध और तीसरा अवक्तव्य। इन धर्मोंका पृथक् पृथक् रूपसे अथवा अन्य धर्मोंके साथ संयुक्त रूपसे कथन किया जाता है तब सात भंग हो जाते हैं। ये भंग किसी एक पर्यायकी अपेक्षासे होते हैं, अतः उनके साथ कथंचित् अर्थको सूचित करनेवाला 'स्यात्' शब्द लगाया जाता है। सात भंग इस प्रकार हैं -- १. स्यादस्ति, २. स्यान्नास्ति, ३. स्यादवक्तव्य, ४. स्यादस्तिनास्ति, ५. स्यादस्ति अवक्तव्य, ६. स्यान्नास्ति अवक्तव्य, और ७. स्यादस्तिनास्ति अवक्तव्य। इसका खुलासा इस प्रकार है --

१. स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव इस प्रकार स्वचतुष्टकी अपेक्षा द्रव्य अस्तिरूप है।

२. परद्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षा द्रव्य नास्तिरूप है।

३. एक कालमें 'अस्तिनास्ति' नहीं कह सकते इसलिए अवक्तव्य है।

४. क्रमसे वचनद्वारा अस्तिनास्ति धर्मोंका कथन हो सकता है इसलिए अस्तिनास्तिरूप है।

५. 'अस्ति' धर्मको जब अवक्तव्यके साथ मिलाकर कहते हैं तब द्रव्य अस्ति अवक्तव्यरूप है।

६. 'नास्ति' धर्मको जब अवक्तव्यके साथ मिलाकर कहते हैं तब द्रव्य नास्ति अवक्तव्यरूप है।

७. और, जब कालक्रमसे 'अस्ति''नास्ति' धर्मको अवक्तव्यके साथ मिलाकर कहते हैं तब द्रव्य

अस्तिनास्ति अवक्तव्यरूप होता है।।२३।।

आगे सदुत्पाद और असदुत्पादके समर्थनमें जीवकी जिन मनुष्यादि पर्यायोंका उल्लेख किया गया है वे मोहक्रियाके फल हैं और इसकारण वस्तुस्वभावसे पृथक् हैं ऐसा कथन करते हैं --

एसोत्ति णत्थि कोई, ण णत्थि किरिया सहाव णिव्वत्ता।
किरिया हि णत्थि अफला, धम्मो जदि णिप्फलो परमो।।२४।।

यह पर्याय टंकोत्कीर्ण -- अविनाशी है ऐसा नर नारकादि पर्यायोंमें कोई भी पर्याय नहीं है और रागादि अशुद्ध परिणतिरूप विभाव स्वभावसे उत्पन्न हुई जीवकी अशुद्ध क्रिया नहीं है यह बात भी नहीं है, अर्थात् वह अवश्य है। तथा चूँकि उत्कृष्ट वीतराग भावरूपी परम धर्म निष्फल है अर्थात् नर नारकादि पर्यायरूप फलसे रहित है अतः जीवकी रागादि परिणमनरूप क्रिया फलरहित नहीं है, अर्थात् सफल है, ये नर नारकादि पर्याय उसी क्रियाके फल हैं।

ऊपर जीवकी जिन नर नारकादि पर्यायोंका कथन किया है वे सब अनित्य हैं तथा मोह क्रियासे जन्य हैं अतः शुद्ध निश्चयकी अपेक्षा जीवसे भिन्न हैं तथा छोड़ने योग्य हैं।।२४।।

आगे मनुष्यादि पर्याय जीवकी क्रियाके फल हैं ऐसा प्रकट करते हैं --

कम्मं णामसमक्खं, सभावमध अप्पणो सहावेण।
अभिभूय णरं तिरियं, णेरइयं वा सुरं कुणदि।।२५।।

नाम नामक कर्म अपने स्वभावसे जीवके स्वभावको अभिभूत कर -- आच्छादित कर जीवको मनुष्य, तिर्यंच, नारकी अथवा देव कर देता है।

यद्यपि जीवका शुद्ध स्वभाव निष्क्रिय है तथापि संसारी दशामें उसका वह स्वभाव नाम कर्मके स्वभावसे अभिभूत हो रहा है अतः उसे मनुष्यादि पर्यायोंमें भ्रमण करना पड़ता है, वास्तवमें जीव इन प्रपंचोंमें परवर्ती है।।२५।।

आगे इस बातका निर्धार करते हैं कि मनुष्यादि पर्यायोंमें जीवके स्वभावका अभिभव -- आच्छादन कैसे हो जाता है --

णरणारयतिरियसुरा, जीवा खलु णामकम्मणिव्वत्ता।
ण हि ते लद्धसहावा, परिणममाणा सकम्माणि।।२६।।

मनुष्य नारकी तिर्यंच और देव इस प्रकार चारों गतियोंके जीव निश्चयसे नामकर्मके द्वारा रचे गये हैं और इसलिए वे अपने अपने उपार्जित कर्मोंके अनुरूप परिणमन करते हुए शुद्ध आत्मस्वभावको प्राप्त नहीं होते हैं।

यद्यपि मनुष्यादि पर्याय नामकर्मके द्वारा रचे गये हैं, फिर भी इतने मात्रसे उनमें जीवके स्वभावका

अभिभव नहीं हो जाता। जिस प्रकार कि सुवर्णमें जड़े हुए माणिक्य रत्नका अभिभव नहीं होता है उसी प्रकार मनुष्यादि शरीरसे संबद्ध जीवका अभिभव नहीं होता। उन पर्यायोंमें जो जीव अपने शुद्ध स्वभावको प्राप्त नहीं कर पाते हैं उसका कारण है कि वहाँ वे अपने-अपने उपार्जित कर्मोंके अनुरूप परिणमन करते हैं, जिस प्रकार कि जलका प्रवाह वनमें अपने प्रदेशों और स्वादसे नीम चंदनादि वृक्षरूप होकर परिणमन करता है। वहाँ वह जल अपने द्रव्यस्वभाव और स्वादस्वभावको प्राप्त नहीं कर पाता है उसी प्रकार यह आत्मा भी जब नर नारकादि पर्यायोंमें अपने प्रदेश और भावोंसे कर्मरूप होकर परिणमन करता है तब वह शुद्ध चिदानंद स्वभावको प्राप्त नहीं होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जीव परिणमनके दोषसे यद्यपि अनेकरूप हो जाता है तथापि उसके स्वभावका नाश नहीं होता।।२६।।

आगे, जीव द्रव्यपनेकी अपेक्षा व्यवस्थित होनेपर भी पर्यायकी अपेक्षा अनवस्थित है -- नाना रूप है यह प्रकट करते हैं --

जायदि णेव ण णस्सदि, खणभंगसमुब्भवे जणे कोई।
जो हि भवो सो विलओ, सभवविलयत्ति ते णाणा।।२७।।

जिसमें प्रत्येक क्षण उत्पाद और व्यय हो रहा है ऐसे जीवलोकमें द्रव्यदृष्टिसे न तो कोई जीव उत्पन्न होता है और न कोई नष्ट ही होता है। द्रव्यदृष्टिसे जो उत्पाद है वही व्यय है -- दोनों एकरूप हैं, परंतु पर्यायदृष्टिसे उत्पाद और व्यय नानारूप हैं -- जुदे-जुदे हैं।

जैसे किसीने घड़ा फोड़कर कूँडा बना लिया। यहाँ अब मिट्टीकी ओर दृष्टि डालकर विचार करते हैं तब कहना पड़ता है कि न मिट्टी उत्पन्न हुई है और न नष्ट ही। जो मिट्टी घड़ारूप थी वही तो कूँडारूप हुई है, इसलिए दोनों एक ही हैं, परंतु जब घड़ा और कूँडा इन दोनों पर्यायोंकी ओर दृष्टि देकर विचार करते हैं तब कहना पड़ता है कि घड़ा नष्ट हो गया और कूँडा उत्पन्न हो गया। तथा यह दोनों पर्याय कालक्रमसे हुईं अतः एक न होकर अनेक हैं। इस कथनसे यह सिद्ध हुआ कि पदार्थ द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा अवस्थित तथा एक है और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा अनवस्थित तथा अनेक है।।२७।।

अब जीवकी अस्थिर दशाको प्रकट करते हैं --

तम्हा दु णत्थि कोई, सहावसमयट्ठिदोत्ति संसारे।
संसारो पुण किरिया, संसरमाणस्स दव्वस्स।।२८।।

इसलिए संसारमें कोई भी जीव स्वभावसे अवस्थित है -- स्थिररूप है ऐसा नहीं है और चारों गतियोंमें संसरण -- भ्रमण करनेवाले जीव द्रव्यकी जो क्रिया है -- अन्य अन्य अवस्थारूप परिणति है वही संसार है।।२८।।

आगे बतलाते हैं कि अशुद्ध परिणतिरूप संसारमें जीवके साथ पुद्गलका संबंध किस

प्रकार होता है जिससे कि उसे मनुष्यादि पर्याय धारण करना पड़ते हैं --

आदा कम्ममलिमसो, परिणामं लहदि कम्मसंजुत्तं।
तत्तो सिलिसदि कम्मं, तम्हा कम्मं तु परिणामो।।२९।।

यह जीव अनादिबद्ध कर्मोंसे मलिन होता हुआ कर्मसंयुक्त परिणामको प्राप्त होता है -- मिथ्यात्व तथा राग द्वेषादि रूप विभाव दशाको प्राप्त होता है और उस विभाव दशासे पुद्गलात्मक द्रव्य कर्मके साथ संबंधको प्राप्त करता है इससे यह सिद्ध हुआ कि भावकर्मरूप आत्माका सराग परिणाम ही कर्मका कारण होनेसे कर्म कहलाता है।

यह जीव अनादि कालसे कर्मकलंकसे दूषित होकर मिथ्यात्व तथा राग द्वेषादिरूप परिणमन करता है उसके फलस्वरूप इसके साथ द्रव्यकर्मका संबंध हो जाता है और जब उसका उदय आता है तब इसे मनुष्यादि पर्यायोंमें भ्रमण करना पड़ता है। यह द्रव्यकर्म और भावकर्मका कार्यकारणभाव अनादि कालसे चला आ रहा है इसलिए इतरेतराश्रय दोषकी आशंका नहीं करना चाहिए।

अब यह सिद्ध करते हैं कि यथार्थमें आत्मा द्रव्यकर्मोंका कर्ता नहीं है --

परिणामो सयमादा, सा पुण किरयत्ति होइ जीवमया।
किरिया कम्मत्ति मदा, तम्हा कम्मस्स ण दु कत्ता।।३०।।

जीवका जो परिणाम है वह स्वयं जीव है -- जीवरूप है, उसकी जो क्रिया है वह भी जीवसे निर्वृत्त होनेके कारण जीवमयी है। और चूँकि रागादि परिणतिरूप क्रिया ही कर्म -- भावकर्म मानी गयी है अतः जीव उसीका कर्ता है, पुद्गलरूप द्रव्यकर्मका कर्ता नहीं है।

कर्ता और कर्मका व्यवहार स्वद्रव्यमें ही हो सकता है इसलिए जीव रागादिभाव कर्मका ही कर्ता है, पुद्गलरूप द्रव्यकर्मका कर्ता नहीं है। भावकर्म जीवकी निज अशुद्ध परिणति है और द्रव्यकर्म पुद्गल द्रव्यकी परिणति है। तत्त्वदृष्टिसे दो विजातीय द्रव्योंमें कर्ताकर्म व्यवहार त्रिकालमें भी संभव नहीं है।।३०।।

अब आत्मा जिस स्वरूप परिणमन करता है उसका प्रतिपादन करते हैं --

परिणमदि चेयणाए, आदा पुण चेदणा तिधाभिमदा।
सा पुण णाणे कम्मे, फलम्मि वा कम्मणो भणिदा।।३१।।

आत्मा चेतनारूप परिणमन करता है और वह चेतना ज्ञान, कर्म तथा कर्मफलके भेदसे तीन प्रकारकी कही गयी है।

जीव चाहे शुद्ध दशामें हो चाहे अशुद्ध दशामें, प्रत्येक दशामें वह चेतनारूप ही परिणमन करता है। वह चेतना ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतनाके भेदसे तीन प्रकारकी कही गयी है।।३१।।

आगे उक्त तीन चेतनाओंका स्वरूप कहते हैं --

णाणं अत्थवियप्पो, कम्मं जीवेण सं समारद्धं।
तमणेगविधं भणिदं, फलत्ति सोक्खं व दुक्खं वा।।३२।।

पदार्थका विकल्प -- स्वपरका भेद लिये हुए जीवाजीवादि पदार्थोंका तत्तदाकारसे जानना ज्ञान है, जीवने जो प्रारंभ कर रखा है वह कर्म है, वह कर्म शुभाशुभादिके भेदसे अनेक प्रकारका है और सुख अथवा दुःख कर्मका फल है।

जिस प्रकार दर्पण एक ही कालमें घटपटादि विविध पदार्थोंको प्रतिबिंबित करता है उसी प्रकार ज्ञान एक ही कालमें स्वपरका भेद लिये हुए विविध पदार्थोंको प्रकट करता है। इस प्रकार आत्माका जो ज्ञान भावरूप परिणमन है उसे ज्ञानचेतना कहते हैं। जीव, पुद्गल कर्मके निमित्तसे प्रत्येक समय जो शुभ अशुभ आदि अनेक भेदोंको लिये हुए भाव कर्मरूप परिणमन करता है उसे कर्मचेतना कहते हैं तथा जीव, अपने-अपने कर्मबंधके अनुरूप जो सुख दुःखादि फलोंका अनुभव करता है उसे कर्मफलचेतना कहते हैं।।३२।।

आगे ज्ञान कर्म और कर्मके फल अभेद नयसे आत्मा ही है इसका निश्चय करते हैं --

अप्पा परिणामप्पा, परिणामो णाणकम्मफलभावी।
तम्हा णाणं कम्मं, फलं च आदा मुणेयव्वो।।३३।।

आत्मा परिणामस्वरूप है -- परिणमन करना आत्माका स्वभाव है और वह परिणाम ज्ञान, कर्म और कर्मफल रूप होता है, इसलिए ज्ञान, कर्म तथा कर्मफल ये तीनोंही आत्मा हैं ऐसा मानना चाहिए।

यद्यपि नयसे आत्मा परिणामी है और ज्ञानादि परिणाम है, आत्मा चेतक अथवा वेदक है और ज्ञानादि चेत्य अथवा वेद हैं तथापि अभेद नयकी विवक्षासे यहाँ परिणाम और परिणामीको एक मानकर ज्ञानादिको आत्मा कहा गया है ऐसा समझना चाहिए।।३३।।

आगे इस अभेद भावनाका फल शुद्धात्मतत्त्वकी प्राप्ति है यह बतलाते हुए द्रव्यके सामान्य कथनका संकोच करते हैं --

कत्ता करणं कम्मं, फलं च अप्पत्ति णिच्छिदो समणो।
परिणमदि णेव अण्णं, जदि अप्पाणं लहदि सुद्धं।।३४।।

कर्ता, कर्म, करण और फल आत्मा ही हैं ऐसा निश्चय करनेवाला मुनि यदि अन्य द्रव्यरूप परिणमन नहीं करता तो वह शुद्ध आत्माको प्राप्त कर लेता है।।३४।।

इस प्रकार द्रव्यसामान्यका वर्णन पूर्ण कर अब द्रव्यविशेषका वर्णन प्रारंभ करते हुए सर्वप्रथम द्रव्यके जीव और अजीव भेदोंका निरूपण करते हैं --

दव्वं जीवमजीवं, जीवो पुण चेदणोपयोगमयो।
पोग्गलदव्वप्पमुहं, अचेदणं हवदि य अजीवं।।३५।।

द्रव्यके दो भेद हैं -- जीव और अजीव। इनमेंसे जीव चेतनामय और उपयोगमय है तथा पुद्गल द्रव्यको आदि लेकर पाँच प्रकारका अजीव चेतनासे रहित है।

पदार्थको सामान्य-विशेषरूपसे जाननेकी जीवकी जो शक्ति है उसे चेतना कहते हैं और उस शक्तिका ज्ञान-दर्शनरूप जो व्यापार है उसे उपयोग कहते हैं। ज्ञान और दर्शनके भेदसे चेतना तथा उपयोग दोनोंके दो दो भेद हैं। यह द्विविध चेतना और द्विविध उपयोग जिसमें पाया जावे उसे जीव द्रव्य कहते हैं और जिसमें उक्त चेतना तथा तन्मूलक उपयोगका अभाव हो उसे अजीव द्रव्य कहते हैं। अजीव द्रव्यके पाँच भेद हैं -- १. पुद्गल, २. धर्म, ३. अधर्म, ४. आकाश और ५. काल।।३५।।

आगे लोक और अलोकके भेदसे द्रव्यके दो भेद दिखलाते हैं --

पुग्गलजीवणिबद्धो, धम्माधम्मत्थिकायकालड्ढो।
वट्टदि आयासे जो, लोगो सो सव्वकाले दु।।३६।।

अनंत आकाशमें जो क्षेत्र पुद्गल तथा जीवसे संयुक्त और धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय एवं कालसे सहित हो वह सर्वकाल -- अतीत, अनागत तथा वर्तमान इन तीनों कालोंमें लोक कहा जाता है।

इस गाथामें लोकका लक्षण कहा गया है अतः पारिशेष्यात् अलोकका लक्षण अपने आप प्रतिफलित होता है। जहाँ केवल आकाश ही आकाश हो उसे अलोक कहते हैं।।३६।।

आगे क्रिया और भावकी अपेक्षा द्रव्योंमें विशेषता बतलाते हैं --

उप्पादट्ठिदिभंगा, पोग्गलजीवप्पगस्स लोगस्स।
परिणामा[1] [2]जायंते, संघादादो व भेदादो।।३७।।

पुद्गल और जीव स्वरूप लोकके उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य परिणामसे -- एक समयवर्ती अर्थपर्यायसे, संघातसे -- मिलनेसे तथा भेदसे -- बिछुड़नेसे होते हैं।

संसारके प्रत्येक पदार्थोंमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वरूप परिणमन होता रहता है। वह परिणमन किन्हींमें भावस्वरूप होता है और किन्हींमें क्रिया तथा भाव दोनोंरूप होता है। अगुरुलघु गुणके निमित्तसे प्रत्येक पदार्थमें जो समय समय पर शक्तिके अंशोंका परिवर्तन होता है उसे भाव कहते हैं और प्रदेश परिस्पंदात्मक जो हलनचलन है उसे क्रिया कहते हैं। जीव और पुद्गल द्रव्योंमें सदा भावरूप ही परिणमन होता है। जीवमें भी संसारी जीवके ही क्रियारूप परिणमन होता है मुक्त जीवके मुक्त होनेके प्रथम समयको छोड़कर अन्य अनंतकाल तक भावरूप ही परिणमन होता है। इस प्रकार क्रिया और भावकी अपेक्षा जीवादि द्रव्योंमें विशेषता है।।३७।।

---

१. परिणामादो। २. जायदि ज. वृ.।

आगे गुणोंकी विशेषतासे ही द्रव्यमें विशेषता होती है यह सिद्ध करते हैं --

लिंगेहिं जेहिं दव्वं, जीवमजीवं च हवदि विण्णादं।

ते तब्भावविसिट्ठा, मुत्तामुत्ता गुणा णेया।।३८।।

जिन चिह्नोंसे जीव अजीव द्रव्य जाना जाता है वे द्रव्य भावसे विशिष्ट अथवा अविशिष्ट मूर्तिक और अमूर्तिक गुण जानना चाहिए।

'ते तब्भावविसिट्ठा' यहाँ पर दोनों ही वृत्तिकारोंने 'तब्भाव विसिट्ठा' और 'अतब्भाव विसिट्ठा' इस प्रकार दो पाठ मानकर वृत्ति लिखी है जिसका अभिप्राय यह है। द्रव्य और गुणमें आधार आधेय अथवा लक्ष्य-लक्षण भाव है। द्रव्यमें गुण रहते हैं अथवा गुणोंके द्वारा द्रव्यका परिज्ञान होता है। भेद नयसे जिस समय विचार करते हैं उस समय द्रव्य द्रव्यरूप ही रहता है और गुण गुणरूप ही है। द्रव्य गुण नहीं होता और गुण द्रव्य नहीं हो पाता, इसलिए यहाँ गुणोंको विशेषण दिया गया है कि वे अतद्भावसे विशिष्ट हैं, अर्थात् द्रव्यत्व भावसे विशिष्ट नहीं हैं -- जुदे हैं। और अभेद नयसे जब विचार करते हैं तब प्रदेश भेद न होनेसे द्रव्य और गुण एकरूप ही दृष्टिगत होते हैं, इसलिए इस नयविवक्षासे गुणोंको विशेषण दिया गया है कि वे तद्भावसे विशिष्ट हैं, अर्थात् द्रव्यके स्वभावसे विशिष्ट हैं, द्रव्यरूप ही हैं, उससे जुदे नहीं हैं। जो द्रव्य जैसा होता है उसके गुण भी वैसे ही होते हैं, इसलिए मूर्त द्रव्यके गुण मूर्त होते हैं -- इंद्रियग्राह्य होते हैं जैसे कि पुद्गलके रूप रस गंध स्पर्श और अमूर्त द्रव्यके गुण अमूर्त होते हैं -- इंद्रियोंके द्वारा अग्राह्य होते हैं जैसे कि जीवके ज्ञानदर्शनादि।।३८।।

आगे मूर्त और अमूर्त गुणोंका लक्षण ग्रंथकार स्वयं कहते हैं --

मुत्ता इंदियगेज्झा, पोग्गलदव्वप्पगा अणेगविधा[१]।

दव्वाणममुत्ताणं, गुणा अमुत्ता मुणेदव्वा।।३९।।

मूर्त गुण इंद्रियोंके द्वारा ग्राह्य हैं, पुद्गलद्रव्यात्मक हैं और अनेक प्रकारके हैं तथा अमूर्तिक द्रव्योंके गुण अमूर्तिक है, इंद्रियोंके द्वारा अग्राह्य हैं ऐसा जानना चाहिए।।३९।।

अब मूर्त पुद्गल द्रव्यके गुणोंको कहते हैं--

वण्णरसगंधफासा, विज्जंते पुग्गलस्स सुहुमादो।

पुढवीपरियंतस्स य, सद्दो सो पुग्गलो चित्तो।।४०।।

सूक्ष्म परमाणुसे लेकर महास्कंध पृथिवी पर्यंत रूप, रस, गंध और स्पर्श ये चार प्रकारके गुण विद्यमान रहते हैं। इनके सिवाय अक्षर अनक्षर आदिके भेदसे विविध प्रकारका जो शब्द है वह भी पौद्गल -- पुद्गल संबंधी पर्याय है।

---

१. अणेयविहा ज. वृ.।

कर्ण इंद्रियके द्वारा ग्राह्य होने तथा भित्ति आदि मूर्त पदार्थोंके द्वारा रुक जाने आदिके कारण शब्द मूर्तिक है, परंतु रूप, रस, गंध और स्पर्शके समान वह पुद्गलमें सदा विद्यमान नहीं रहता इसलिए गुण नहीं है। शब्द परमाणुमें भी नहीं रहता, किंतु स्कंधमें रहता है अर्थात् स्कंधोंके पारस्परिक आघातसे उत्पन्न होता ह इसलिए पुद्गलका गुण न होकर उसकी पर्याय है।।४०।।

अब अन्य पाँच अमूर्त द्रव्योंके गुणोंका वर्णन करते हैं --

आगासस्सवगाहो, धम्मद्दव्वस्स गमणहेदुत्तं।
धम्मेदरदव्वस्स दु, गुणो पुणो ठाणकारणदा।।४१।।
कालस्स वट्टणा से, गुणोवओगोत्ति अप्पणो भणिदो।
णेया संखेवादो, गुणा हि मुत्तिप्पहीणाणं।।४२।। जुगलं।।

आकाशद्रव्यका अवगाह, धर्मद्रव्यका गमनहेतुत्व, अधर्मद्रव्यका स्थितिहेतुत्व, कालद्रव्यका वर्तना और जीव द्रव्यका उपयोग गुण कहा गया है। इस प्रकार अमूर्त द्रव्योंके गुण संक्षेपसे जानना चाहिए।

पुद्गलको छोड़कर अन्य पाँच द्रव्य अमूर्त हैं, इसलिए उनके गुण भी अमूर्तिक हैं। न उन द्रव्योंका इंद्रियोंके द्वारा साक्षात् ज्ञान होता है और न उनके गुणोंका। समस्त द्रव्योंके लिए अवगाहन -- स्थान देना आकाश द्रव्यका गुण है। यद्यपि अलोकाकाशमें आकाशको छोड़कर ऐसा कोई द्रव्य नहीं है जिसके लिए अवगाहन देता हो तो भी शक्तिकी अपेक्षा उसका गुण रहता ही है। जीव और पुद्गलके गमनमें सहायक होना धर्म द्रव्यका गुण है, उन्हीकी स्थितिमें निमित्त होना अधर्म द्रव्यका गुण है। समय-समय प्रत्येक द्रव्योंकी पर्यायोंके बदलनेमें सहायक होना काल द्रव्यका गुण है और जीवाजीवादि पदार्थोंको सामान्य विशेष रूपसे जानना जीव द्रव्यका गुण है। यह आकाशादि पाँच अमूर्तिक द्रव्योंके असाधारण गुणोंका संक्षिप्त विवेचन है।।४१-४२।।

आगे छह द्रव्योंमें प्रदेशवत्त्व और अप्रदेशवत्त्वकी अपेक्षा विशेषता बतलाते हैं --

जीवा [१]पोग्गलकाया, धम्माऽधम्मा पुणो य [२]आगासं ।
[३]देसेहिं [४]असंखादा, णत्थि पदेसत्ति कालस्स।।४३।।

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाशमें पाँच द्रव्य प्रदेशोंकी अपेक्षा असंख्यात हैं अर्थात् इनके असंख्यात प्रदेश हैं और कालद्रव्यके प्रदेश नहीं हैं। कालद्रव्य एकप्रदेशात्मक है, अतएव उसमें द्वितीयादि प्रदेश नहीं हैं।।४३।।[२]

---

१. पुग्गलकाया । २. आयासं । ३. सपेदसेहिं । ४. असंख्या ज. वृ.।

२. ४३ वीं गाथाके बाद ज. वृ. में निम्नांकित गाथा अधिक व्याख्यात है --

'एदाणि पंच दव्वाणि उज्झियकालं तु अत्थिकायत्ति।
भण्णंते काया पुण बहुप्पदेसाण पचयत्तं।।'

अब प्रदेशी और अप्रदेशी द्रव्य कहाँ रहते हैं इसका विवेचन करते हैं --

लोगालोगेसु णभो, धम्माधम्मेहिं आददो लोगो।
सेसे पडुच्च कालो, जीवा पुण पोग्गला सेसा।।४४।।

आकाश, लोक और अलोक दोनोंमें व्याप्त है, धर्म और अधर्मके द्वारा लोक व्याप्त है अर्थात् ये दोनों समस्त लोकमें फैलकर रहे हैं। शेष रहे जीव, पुद्गल और काल सो ये तीनों विवक्षावश लोकमें व्याप्त हैं। कालद्रव्य स्वयं एकप्रदेशी है इसलिए लोकके एक प्रदेशमें रहता है परंतु ऐसे कालद्रव्य गणनामें असंख्यात हैं और लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेशपर रहते हैं इसलिए अनेक कालाणुओंकी अपेक्षा काल द्रव्य समस्त लोकमें स्थित है। एक जीव द्रव्यके असंख्यात प्रदेश हैं और संकोच-विस्ताररूप स्वभाव होनेसे वे छोटे-बड़े शरीरके अनुरूप लोकके असंख्यातवें भागमें अवस्थित रहते हैं। लोकपूरण समुद्घातके समय लोकमें भी व्याप्त हो जाते हैं। परंतु वह अवस्था किन्हीं जीवोंके समयमात्रके लिए होती है। अधिकांश काल शरीर प्रमाणके अनुरूप लोकाकाशमें ही रहकर बीतता है। यह एक जीव द्रव्यकी अपेक्षा विचार हुआ। नाना जीवोंकी अपेक्षा जीव द्रव्य समस्त लोकमें व्याप्त है। पुद्गल द्रव्यका अवस्थान लोकके एक प्रदेशसे लेकर समस्त लोकमें है। पुद्गलोंमें वस्तुतः द्रव्य संज्ञा परमाणुओंको है। ऐसे परमाणुरूप पुद्गल द्रव्य अनंतानंत हैं। परमाणु एकप्रदेशी है इसलिए वह लोकके एक ही प्रदेशमें स्थित रहता है परंतु जब वह परमाणु अपने स्निग्ध और रूक्षगुणके कारण अन्य परमाणुओंके साथ मिलकर स्कंध हो जाता है तब लोकके एकसे अधिक प्रदेशोंको व्याप्त करने लगता है। ऐसा नियम नहीं है कि लोकके एक प्रदेशमें एक ही परमाणु रहे। यदि ऐसा नियम मान लिया जावे तो लोकके असंख्यात प्रदेशोंमें असंख्यातसे अधिक परमाणु स्थान नहीं पा सकेंगे। नियम ऐसा है कि परमाणु एक ही प्रदेशमें रहता है, परंतु उस एक प्रदेशमें संख्यात-असंख्यात -- अनंत परमाणुओं से निर्मित स्कंध भी स्थित हो सकते हैं। पुद्गल परमाणुओंमें परस्पर अवगाहन देनेकी सामर्थ्य होनेके कारण उक्त मान्यतामें कुछ भी आपत्ति नहीं आती। इस प्रकार स्कंधकी अपेक्षा अथवा अनंतानंत परमाणुओंकी अपेक्षा पुद्गल द्रव्य भी समस्त लोकमें व्याप्त होकर स्थित है। सारांश यह हुआ कि काल, जीव और पुद्गल ये तीन द्रव्य एक द्रव्यकी अपेक्षा लोकके एक देशमें और अनेक द्रव्यकी अपेक्षा सर्व लोकमें स्थित हैं।।४४।।

आगे इन द्रव्योंमें प्रदेशत्व और अप्रदेशत्वकी संभवता दिखाते हैं --

[१]जध ते [२]णभप्पदेसा, [३]तधप्पदेसा हवंति सेसाणं।
अपदेसो परमाणू, तेण पदेसुब्भवो भणिदो।।४५।।

१-२-३ जह ते णहप्पदेसा तहप्पदेसा ज. वृ.।

जिस प्रकार आकाशमें प्रदेश होते हैं उसी प्रकार शेष -- धर्म, अधर्म और एक जीव तथा पुद्‌गलके भी प्रदेश होते हैं। परमाणु स्वयं अप्रदेश है -- द्वितीयादि प्रदेशोंसे रहित है परंतु उससे ही प्रदेशोंकी उत्पत्ति कही गयी है।

पुद्‌गलका परमाणु आकाशके जितने क्षेत्रको रोकता है उसे आकाशका एक प्रदेश कहते हैं। ऐसे प्रदेश आकाशमें अनंत हैं। एक प्रदेशप्रमाण आकाशमें विद्यमान धर्म अधर्म द्रव्यके अंश एक प्रदेश कहलाते हैं। ऐसे प्रदेश धर्म अधर्म द्रव्यमें अनंत हैं। इसी प्रकार जीव और पुद्‌गलमें भी प्रदेशोंका सद्‌भाव समझ लेना चाहिए। एक जीव द्रव्यमें असंख्यात प्रदेश हैं तथा पुद्‌गलमें स्कंधकी अपेक्षा संख्यात, असंख्यात और अनंत प्रदेश हैं। परमाणु एक प्रदेशात्मक है। इस प्रकार सब द्रव्योंमें प्रदेशका व्यवहार परमाणुजन्य ही है।।४५।।

अब कालाणु प्रदेशरहित ही है इस बातका नियम करते हैं --

[१]समओ दु अप्पदेसो, पदेसमेत्तस्स दव्वजादस्स।
वदिवददो सो वट्टदि, पदेसमागासदव्वस्स।।४६।।

समय अप्रदेश है , द्वितीयादि प्रदेशोंसे रहित है। जब एक प्रदेशात्मक पुद्‌गलजातिरूप परमाणु मंद गतिसे आकाश द्रव्यके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशके प्रति गमन करता है तब उस समयकी उत्पत्ति होती है।

यहाँ काल द्रव्यकी समय पर्याय और उसका उपादान कारण कालाणु दोनोंको एक मानकर कथन किया।।४६।।

अब काल पदार्थके द्रव्य और पर्यायका विश्लेषण करते हैं --

वदिवददो तं देसं, तस्सम समओ तदो परो पुव्वो।
जो अत्थो सो कालो, समओ उप्पण्णपद्धंसी।।४७।।

आकाशके उस प्रदेशके प्रति मंदगतिसे जानेवाले परमाणुके जो काल लगता है उसके बराबर सूक्ष्मकाल है। काल द्रव्यकी पर्याय भूत समय कहलाता है और उसके आगे तथा पहले अन्वयी रूपसे स्थिर रहनेवाला जो पदार्थ है वह काल द्रव्य है। समय वर्तमान पर्यायकी अपेक्षा उत्पन्न प्रध्वंसी है -- उत्पन्न होकर नष्ट होता रहता है।।४७।।

अब आकाशके प्रदेशका लक्षण कहते हैं --

[२]आगासमणुनिविट्ठं, [३]आगासपदेससण्णया भणिदं।
सव्वेसिं च [४]अणूणं, सक्कदि तं देदुमवकासं।।४८।।

१. समयपर्यायस्योपादानकारणत्वात्समयः कालाणुः ज. वृ. ।

२. आयास ज. वृ. । ३. आयास ज. वृ. ।

४. शेष पञ्चद्रव्यप्रदेशानां परमसौक्ष्म्यपरिणतानन्तपरमाणुस्कन्धानां च ज. वृ. ।

परमाणुसे रोका हुआ जो आकाश है वह आकाशका प्रदेश इस नामसे कहा गया है। वह आकाशका एक प्रदेश अन सब द्रव्योंके प्रदेशोंको तथा परम सूक्ष्म अवस्थाको प्राप्त हुए अनंत पुद्गल स्कंधोंको अवकाश देनेमें समर्थ है।।४८।।

आगे तिर्यक्प्रचय और ऊर्ध्वप्रचयका लक्षण कहते हैं --

एको व दुगे बहुगा, संखातीदा तदो अणंता य।
दव्वाणं च पदेसा, संति हि समयत्ति कालस्स।।४९।।

कालद्रव्यको छोड़कर शेष पाँच द्रव्योंके प्रदेश एक दो अर्थात् संख्यात, असंख्यात और उसके बाद अनंत तक यथायोग्य होते हैं परंतु कालद्रव्यका समय पर्यायरूप एक ही प्रदेश है।

प्रदेशोंके समूहको तिर्यक्प्रचय और क्रमवर्ती समयोंके समूहको ऊर्ध्वताप्रचय कहते हैं। ऊर्ध्वताप्रचय सभी द्रव्योंमें होता है परंतु तिर्यक्प्रचय उन्हीं द्रव्योंमें संभव है जिनमें कि अनेक प्रदेश पाये जाते हैं। यतः कालद्रव्य एकप्रदेशी है अतः उसमें तिर्यक्प्रचय नहीं होता, केवल ऊर्ध्वताप्रचय ही होता है।।४९।।

अब कालद्रव्यमें जो ऊर्ध्वप्रचय होता है वह निरन्वय नहीं होता, किंतु द्रव्यपनेसे अन्वयी रूप -- ध्रुवरूप होता है यह सिद्ध करते हैं --

उप्पादो पद्धंसो, विज्जदि जदि जस्स एकसमयम्मि।
समयस्स सोवि समयो, सभावसमवट्ठिदो हवदि।।५०।।

जिस कालाणुरूप समयका एक ही समयमें उत्पाद और व्यय होता है वह समय भी -- काल पदार्थ भी अपने अपने स्वभावमें अवस्थित रहता है।

कालाणु द्रव्य होनेके कारण ध्रुवरूप रहता है और उसमें समयरूप पर्यायोंका उत्पाद तथा व्यय होता रहता है। मंदगतिसे चलनेवाला पुद्गल परमाणु जब पूर्व कालाणुको छोड़कर उत्तरवर्ती कालाणुके पास पहुँचता है तब नवीन समय पर्यायका उत्पाद होता है और पूर्व समय पर्यायका व्यय होता है। परंतु कालाणु दोनोंमें अन्वयरूपसे विद्यमान रहता है।।५०।।

आगे यह सिद्ध करते हैं कि वर्तमान समयके समान काल द्रव्यके अतीत-अनागत सभी समयोंमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य होते हैं --

[1]एकम्मि संति समये, संभवठिदिणाससण्णिदा अट्ठा।
समयस्स सव्वकालं, एस हि कालाणुसब्भावो।।५१।।

एक समय पर्यायमें कालाणुरूप कालद्रव्यके उत्पाद स्थिति तथा विनाशरूप भाव होते हैं। निश्चयसे यह उत्पादादित्रयरूप कालाणुका सद्भाव सदाकाल विद्यमान रहता है।

---

१. एगम्हि ज. वृ. ।

जिस प्रकार काल द्रव्य एक ही समयमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप परिणमन करता है उसी प्रकार सब समयमें परिणमन करता है।।५१।।

आगे कालद्रव्य अप्रदेश है इसका यह अर्थ नहीं है कि उसमें एक भी प्रदेश नहीं होता। यहाँ अप्रदेशका अर्थ एकप्रदेशी है। यदि कालद्रव्यको एकप्रदेशी न माना जाय तो उसका अस्तित्व ही सिद्ध नहीं हो सकेगा। यह बतलाते हैं --

जस्स ण संति पदेसा, पदेसमेत्तं व तच्चदो णादुं।
सुण्णं जाण तमत्थं, अत्थंतरभूदमत्थीदो।।५२।।

जिस द्रव्यमें बहुत प्रदेश नहीं हैं अथवा जो परमार्थसे एकप्रदेशी भी नहीं जाना जा सकता है अर्थात् जिसमें एक भी प्रदेश नहीं है अस्तित्वसे बहिर्भूत उस पदार्थको तुम शून्य जानो।

पदार्थका अस्तित्व उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे होता है तथा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य प्रदेशों पर निर्भर हैं। अतः जिस द्रव्यमें एक भी प्रदेश नहीं होगा उसका अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता। यतः कालद्रव्य अस्तित्वरूप है अतः उसे एकप्रदेशी मानना चाहिए। अप्रदेशका अर्थ द्वितीयादि प्रदेशसे रहित समझना चाहिए।।५२।।

इस प्रकार ज्ञेय तत्त्वको कहकर अब ज्ञान ज्ञेयके विभागसे आत्माका निश्चय करना चाहते है, अतः सर्वप्रथम आत्माको परभावोंसे जुदा करनेके लिए उसके व्यवहार जीवत्वके कारण दिखलाते हैं --

सपदेसेहिं समग्गो, लोगो अट्ठेहिं णिट्ठिदो णिच्चो।
जो त्तं जाणदि जीवो, पाण[१]चदुक्काहिसंबद्धो।।५३।।

यह लोक अपने प्रदेशोंसे परिपूर्ण है, जीवाजीवादि पदार्थोंसे भरा हुआ है और नित्य है। इसे जो जानता है तथा इंद्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास इन चार प्राणोंसे संयुक्त है वह जीव है।

यद्यपि जीव निश्चयसे स्वतःसिद्ध परमचैतन्यरूप निश्चयप्राणसे जीवित रहता है तथापि यहाँ व्यवहारकी अपेक्षा उसे इंद्रियादि चार बाह्य प्राणोंसे जीवित रहनेवाला बतलाया है। वह भी इसलिए कि इन सर्वगम्य बाह्य प्राणोंसे अल्पज्ञ मनुष्य भी जीवको लोकके अन्य पदार्थोंसे अत्यंत भिन्न समझने लगें।।५३।।

अब वे चार प्राण कौन हैं? यह स्वयं ग्रंथकार बतलाते हैं --

इंदियपाणो य तधा, बलपाणो तह य आउपाणो य।
आणप्पाणप्पाणो, जीवाणं होंति पाणा ते।।५४।।

---

१. पाणचउक्केण संबद्धो , ज. वृ.

स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पाँच इंद्रियप्राण, इसी प्रकार मनोबल, वचनबल और कायबल ये तीन बलप्राण, इसी प्रकार आयुप्राण और श्वासोच्छ्वास प्राण ये जीवोंके (चार अथवा दस) प्राण होते हैं।

जिनके संयोगसे जीव जीवित अथवा मृत कहलावे उन्हें प्राण कहते हैं। ऐसे प्राण अभेदविवक्षासे चार और भेदविवक्षासे दस होते हैं।।५४।। [१]

अब जीव शब्दकी निरुक्तिपूर्वक यह बतलाते हैं कि प्राण जीवत्वके कारण हैं तथा पौद्गलिक हैं --

पाणेहिं चदुहिं जीवदि, जीवस्सदि जो हि जीविदो पुव्वं।
सो जीवो पाणा पुण, पोग्गलदव्वेहिं णिव्वत्ता।।५५।।

जो पूर्वोक्त चार प्राणोंसे वर्तमानमें जीवित है, आगे जीवित होगा और पहले जीवित था वह जीव है। वे सभी प्राण पुद्गल द्रव्यसे रचे गये हैं।

'यः प्राणैः जीवति स जीवः' जो प्राणोंसे जीवित है वह जीव है, यह वर्तमान प्राणियोंकी अपेक्षा निरुक्ति है। 'यः प्राणैः जीविष्यति स जीवः' जो प्राणोंसे जीवित होगा वह जीव है, यह विग्रहगति में स्थित जीवोंकी अपेक्षा निरुक्ति है और 'यः प्राणैरजीवत्' जो प्राणोंसे जीवित था वह जीव है, यह मुक्त जीवोंकी जीवकी निरुक्ति है ऐसा समझना चाहिए।।५५।।

अब प्राण पौद्गलिक हैं इस बातको स्वतंत्ररूपसे सिद्ध करते हैं --

जीवो पाणणिबद्धो, बद्धो मोहादिएहिं कम्मेहिं।
उवभुंजं कम्मफलं, बज्झदि अण्णेहिं कम्मेहिं।।५६।।

मोह आदि पौद्गलिक कर्मोंसे बँधा हुआ जीव पूर्वोक्त प्राणोंसे बद्ध होता है और उनके संबंधसे ही कर्मोंके फलको भोगता हुआ अन्य ज्ञानावरणादि पौद्गलिक कर्मोंसे बद्ध होता है।

यतः प्राणोंके कारण और कार्य दोनों ही पौद्गलिक हैं अतः प्राण भी पौद्गलिक ही हैं -- पुद्गलसे निष्पन्न हैं ऐसा जानना चाहिए।।५६।।

अब प्राण पौद्गलिक कर्मके कारण हैं यह स्पष्ट करते हैं --

पाणाबाधं जीवो, मोहपदेसेहिं कुणदि जीवाणं।
जदि सो हवदि हि बंधो, णाणावरणादिकम्मेहिं।।५७।।

यदि वह प्राणसंयुक्त जीव, मोह तथा राग-द्वेषरूप भावोंसे स्वजीव और परजीवोंके प्राणोंका घात

---

१. ५४ वीं गाथाके बाद ज. वृ. में निम्न गाथा अधिक व्याख्यात है --
'पंचवि इंदियपाणा मणवचिकाया य तिण्णि बलपाणा।
आणप्पाणप्पाणो आउगपाणेण होंति दस पाणा।।'

करता है तो उसके ज्ञानावरणादि कर्मोंसे बंध होता है।

यह जीव इंद्रियादि प्राणोंके द्वारा कर्मफलको भोगता है, उसे भोगता हुआ मोह तथा राग द्वेषको प्राप्त होता है, और मोह तथा राग द्वेषसे स्वजीव तथा परजीवोंके प्राणोंका विघात करता है। अन्य जीवोंके प्राणोंका विघात न भी कर सके तो भी अंतरंगके कलुषित हो जानेसे स्वकीय भाव प्राणोंका घात तो करता ही है। इस प्रकार संक्लिष्ट परिणाम होनेसे ज्ञानावरणादि नवीन कर्मोंका बंध करता है। इससे यह सिद्ध होता है कि प्राण पौद्गलिक कर्मोंके कारण हैं।।५७।।

आगे इन पौद्गलिक प्राणोंकी संतति क्यों चलती है? इसका अंतरंग कारण कहते हैं --

आदा कम्ममलिमसो, [१]धारदि पाणे पुणो पुणो अण्णे।
ण जहदि जाव ममत्तं, देहपधायेसु विसएसु।।५८।।

अनादि कालीन कर्मसे मलिन आत्मा तब तक बार-बार दूसरे प्राणोंको धारण करता रहता है जब तक कि वह शरीरादि विषयोंमें ममत्वभावको नहीं छोड़ता है।

संसार शरीर और भोगोंमें ममता बुद्धि ही प्राणोंकी संततिको आगे चलानेमें अंतरंग कारण है।।५८।।

अब पौद्गलिक प्राणोंकी संततिके रोकनेमें अंतरंग कारण बतलाते हैं --

जो इंदियादिविजई, भवीय उवओगमप्पगं झादि।
कम्मेहिं सो ण रंजदि, किह तं पाणा अणुचरंति।।५९।।

जो इंद्रिय विषय कषाय आदिको जीतनेवाला होकर शुद्ध उपयोगरूप आत्माका ध्यान करता है वह कर्मोंसे अनुरक्त नहीं होता फिर प्राण उसका अनुचरण कैसे कर सकते हैं -- उसके साथ कैसे संबंध कर सकते हैं? अर्थात् नहीं कर सकते।।५९।।

आगे आत्माको अन्य पदार्थोंसे बिलकुल ही जुदा करनेके लिए व्यवहार जीवकी चतुर्गतिरूप पर्यायका स्वरूप कहते हैं --

अत्थित्तणिच्छिदस्स हि, अत्थस्सत्थंतरम्मि संभूदो।
अत्थो पज्जायो सो, संठाणादिप्पभेदेहिं।।६०।।

स्वलक्षणभूत स्वरूपास्तित्वसे निश्चित जीव पदार्थकी अन्य पदार्थ -- पुद्गल द्रव्यके संयोगसे उत्पन्न हुई जो दशाविशेष है वह पर्याय है। वह पर्याय संस्थान, संहनन आदिके भेदसे अनेक प्रकारकी है।

नामकर्मादि रूप पुद्गलके साथ संबंध होनेपर जीवमें नर नारकादि रूप पर्यायें उत्पन्न होती हैं जो अपने संस्थान संहनन आदिके भेदसे विविध पदार्थकी हुआ करती हैं। पर संयोगज होनेके कारण ऐसी

१. धरेदि ज. वृ. ।

सभी पर्यायें विभाव पर्यायें कहलाती हैं अतएव त्याज्य हैं।।६०।।

अब जीवकी पूर्वोक्त पर्यायोंको दिखलाते हैं --

णरणारयतिरियसुरा, संठाणादीहिं अण्णहा जादा।
पज्जाया जीवाणं, [१]उदयादु हि णामकम्मस्स।।६१।।

संसारी जीवोंकी जो नर, नारक, तिर्यंच और देव पर्याय हैं वे नामकर्मके उदयसे संस्थान, संहनन आदिके द्वारा स्वभाव पर्यायसे भिन्न विभावरूप होते हैं।

जिस प्रकार एक ही अग्नि ईंधनके भेदसे अनेक प्रकारकी दिखती है उसी प्रकार एक ही आत्मा कर्मोदयवश अनेकरूप दिखायी देता है।।६१।।

आगे यद्यपि आत्मा अन्य द्रव्योंके साथ संकीर्ण है -- मिला हुआ है तो भी उसका स्वरूपास्तित्व स्वपरके विभागका कारण है यह दिखलाते हैं --

तं सब्भावणिबद्धं , दव्वसहावं तिहा समक्खादं।
जाणदि जो सवियप्पं, ण मुहदि सो अण्णदवियम्हि।।६२।।

जो पुरुष उस पूर्वकथित द्रव्यके स्वरूपास्तित्वसे युक्त द्रव्यगुण पर्याय अथवा उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यके भेदसे तीन प्रकार कहे हुए द्रव्यके स्वभावको भेदसहित जानता है वह शुद्धात्म द्रव्यसे भिन्न अन्य अचेतन द्रव्योंमें मोहको प्राप्त नहीं होता।

आत्मद्रव्यका स्वरूपास्तित्व ही उसे परपदार्थोंसे विविक्त सिद्ध करता है ।।६२।।

आगे सब प्रकारसे आत्माको भिन्न करनेके लिए परद्रव्यके संयोगका कारण दिखलाते हैं -

अप्पा उवओगप्पा, उवओगो णाणदंसणं भणिदो।
सो हि सुहो असुहो वा, उवओगो अप्पणो हवदि।।६३।।

आत्मा उपयोगस्वरूप है, ज्ञान और दर्शन उपयोग कहे गये हैं और आत्माका वह उपयोग शुभ तथा अशुभ होता है।

आत्माके चैतन्यानुविधायी परिणामको उपयोग कहते हैं। उस उपयोगका परिणमन ज्ञान दर्शनके भेदसे दो प्रकारका होता है। सामान्य चेतनाके परिणामको दर्शनोपयोग और विशेष चेतनाके परिणामको ज्ञानोपयोग कहते हैं। आत्माका यह उपयोग अपने आपमें शुद्ध होता है, परंतु मोहका उदय उसे मलिन करता रहता है। जिस उपयोगके साथ मोहका उदय मिश्रित रहता है वह अशुद्धोपयोग कहलाता है और जो उपयोग मोहके उदयसे अमिश्रित रहता है वह शुद्धोपयोग कहलाता है। मोहका उदय असंख्यात प्रकारका होता है परंतु संक्षेपमें उसके शुभ-अशुभके भेदसे दो भेद माने जाते हैं। शुद्धोपयोग कर्मबंधका कारण नहीं

---

२. उययादि दि ज. वृ. ।

है, परंतु शुभ-अशुभके भेदसे विभाजित अशुद्धोपयोग कर्मबंधका कारण माना गया है। इस प्रकार आत्माका जो परद्रव्यके साथ संयोग होता है उसमें उसका अशुद्धोपयोग ही कारण है।।६३।।

अब कौन उपयोग किस कर्मका कारण है यह बतलाते हैं --

उवओगो जदि हि सुहो, पुण्णं जीवस्स संचयं जादि।
असुहो वा [1]तध पावं, तेसिमभावे ण चयमत्थि।। ६४।।

यदि जीवका उपयोग शुभ होता है तो पुण्यकर्म संचय -- बंधको प्राप्त होता है और अशुभ होता है तो पापकर्मसंचयको प्राप्त होता है। उन शुभ-अशुभ उपयोगोंके अभावमें कर्मोंका चय -संग्रह - बंध नहीं होता है।।६४।।

आगे शुभोपयोगका स्वरूप कहते हैं --

जो जाणादि जिणिंदे, पेच्छदि सिद्धे तधेव अणगारे।
जीवे य साणुकंपो, उवओगो सो सुहो तस्स।।६५।।

जो जीव परमभट्टारक महादेवाधिदेव श्री अर्हंत भगवान्को जानता है, ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मसे रहित और सम्यग्दर्शनादि गुणोंसे विभूषित श्री सिद्ध परमेष्ठीको ज्ञानदृष्टिसे देखता है, उसी प्रकार आचार्य उपाध्याय और साधुरूप निष्परिग्रह गुरुओंको जानता है देखता है तथा जीवमात्रपर दयाभावसे सहित है उस जीवका वह उपयोग शुभोपयोग कहलाता है।।६५।।

अब अशुभोपयोगका स्वरूप बतलाते हैं --

विषयकसाओगाढो, दुस्सुदिदुच्चित्तदुट्ठगोट्ठिजुदो।
उग्गो उम्मग्गपरो, उवओगो जस्स सो असुहो।।६६।।

जीवका जो उपयोग विषय और कषायसे व्याप्त है, मिथ्या शास्त्रोंका सुनना, आर्त रौद्ररूप खोटे ध्यानोंमें प्रवृत्त होना तथा दुष्ट - कुशील मनुष्योंके साथ गोष्ठी करना आदि कार्योंसे युक्त है, हिंसादि पापोंके आचरणमें उग्र है और उन्मार्ग -- विपरीत मार्गके चलानेमें तत्पर है वह अशुभोपयोग है।।६६।।

आगे शुभाशुभ भावसे रहित शुद्धोपयोगका वर्णन करते हैं --

असुहोवओगरहिदो, सुहोवजुत्तो ण अण्णदवियम्मि।
होज्झं मज्झत्थोऽहं, णाणप्पगमप्पगं झाए।।६७।।

जो अशुभोपयोगसे रहित है और शुभोपयोगमें भी जो उद्यत नहीं हो रहा है ऐसा मैं आत्मातिरिक्त अन्य द्रव्योंमें मध्यस्थ होता हूँ और ज्ञानस्वरूप आत्माका ही ध्यान करता हूँ।

---

१. तह ज. वृ.।

जो अशुभोपयोगको पहले छोड़ चुका है, अब शुभोपयोगमें भी प्रवृत्त होनेके लिए जिसका जी नहीं चाहता, जो शुद्धात्माको छोड़कर अन्य सब द्रव्योंमें मध्यस्थ हो रहा है और जो निरंतर सहज चैतन्यसे उद्भासित एक निजशुद्ध आत्माका ही ध्यान करता है वह शुद्धोपयोगी है। इस जीवके उपयोगको शुद्धोपयोग कहते हैं। इस शुद्धोपयोग के प्रभावसे आत्माका परद्रव्य के साथ संयोग छूट जाता है। इसलिए ही श्री कुंदकुंद स्वामीने शुद्धोपयोगी होनेकी भावना प्रकट की है।।६७।।

आगे शरीरादि परद्रव्यमें भी माध्यस्थ्य भाव प्रकट करते हैं --

णाहं देहो ण मणो, ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं।
कत्ता ण [1]ण कारयिदा, अणुमत्ता णेव कत्तीणं।।६८।।

न मैं शरीर हूँ, न मन हूँ, न वचन हूँ, न उनका कारण हूँ, न उनका करनेवाला हूँ, न करानेवाला हूँ और न करनेवालोंको अनुमति देनेवाला हूँ।

परमविवेकी मनुष्य जिसप्रकार शरीरसे इतर पदार्थोंमें परत्वबुद्धि रखते हैं उसी प्रकार स्वशरीरमें भी परत्वबुद्धि रखते हैं। स्वशरीर ही नहीं, उसके आश्रयसे होनेवाले काय, वचन और मनोयोगमें भी परत्व बुद्धि रखते हैं। यही कारण है कि कुंदकुंद स्वामीने यहाँ यह भावना प्रकट की है कि मैं कायादि तीनों योगोंमेंसे कोई भी नहीं हूँ, न मैं इन्हें स्वयं करता हूँ, न दूसरेसे कराता हूँ और न इनके करनेवालोंको अनुमति ही देता हूँ।।६८।।

आगे इस बातका निश्चय करते हैं कि शरीर, वचन और मन तीनोंही परद्रव्य हैं --

देहो य मणो वाणी, पोग्गलदव्वप्पगत्ति णिद्दिट्ठा।
पोग्गलदव्वं पि पुणो, पिंडी परमाणुदव्वाणं।।६९।।

शरीर, मन और वचन तीनों ही पुद्गल द्रव्यात्मक हैं ऐसे कहे गये हैं और पुद्गल द्रव्य भी परमाणुरूप द्रव्योंका स्कंधरूप पिंड है।।६९।।

आगे आत्माके परद्रव्य तथा उसके कर्तृत्वका अभाव सिद्ध करते हैं --

णाहं पोग्गल[2]मइओ, ण ते मया [3]पोग्गला कया पिंडं।
तम्हा हि ण देहोऽहं, कत्ता वा तस्स देहस्स।।७०।।

मैं पुद्गलरूप नहीं हूँ और न मेरे द्वारा वे पुद्गल पिंड -- शरीररूप किये गये हैं। इसलिए निश्चयसे मैं शरीर नहीं हूँ और न उस शरीरका कर्ता ही हूँ।

मैं सहज चैतन्यसे उद्भासित अखंड चैतन द्रव्य हूँ और शरीर पुद्गलसे निर्वृत्त अचेतन पदार्थ है, एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कर्ता नहीं है, सभी द्रव्योंका सहज स्वभावसे शाश्वतिक परिणमन हो रहा है। मैं

१. ज. वृ. । २. पुग्गल ज. वृ. । ३. पुग्गला ज. वृ.।

अपने सहज शुद्ध स्वभावका ही कर्ता हो सकता हूँ, जड़ शरीरका कर्ता त्रिकालमें भी नहीं हो सकता, उसके कर्ता तो पुद्गल परमाणु हैं जिनके कि द्वारा शरीराकार स्कंधकी रचना हुई है। ..... इस प्रकारके विचारोंसे श्री कुंदकुंद स्वामीने अपनी शुद्ध आत्माको अन्य द्रव्योंसे अत्यंत विभक्त सिद्ध किया है।।७०।।

आगे 'यदि आत्मा पुद्गल परमाणुओंमें शरीराकार परिणमन नहीं करता है तो फिर उनमें शरीररूप पर्यायकी उत्पत्ति किस प्रकार होती है' इस प्रश्नका उत्तर देते हैं --

अपदेसो परमाणू, पदेसमेत्तो य समयसद्दो जो।
णिद्धो वा लुक्खो वा, दुपदेसादित्तमणुहवदि।।७१।।

जो परमाणु द्वितीयादि प्रदेशोंसे रहित है, एक प्रदेशमात्र है और स्वयं शब्दसे रहित है, वह यतः स्निग्ध अथवा रूक्ष गुणका धारक होता है अतः द्विप्रदेशादिपनेका अनुभव करता है।

यद्यपि परमाणु एकप्रदेशरूप है तो भी वह स्निग्ध अथवा रूक्ष गुणके कारण दूसरे परमाणुओंके साथ मिलकर स्कंध बन जाता है। ऐसा स्कंध दोप्रदेशीसे लेकर संख्यात असंख्यात और अनंत प्रदेशी तक होता है। जीवका शरीर भी ऐसे ही परमाणुओंके संयोगसे बना हुआ है। यथार्थमें पुद्गल परमाणुओंका पुंज ही शरीरका कर्ता है। यह जीव मोहके उदयसे व्यर्थ ही अपने आपको उसका कर्ता धर्ता मानकर रागी द्वेषी होता है।।७१।।

आगे परमाणुका वह स्निग्ध अथवा रूक्ष गुण किस प्रकारका है यह कहते हैं --

एगुत्तरमेगादी, अणुस्स णिद्धत्तणं व लुक्खत्तं।
परिणामादो भणिदं, जाव अणंतत्तमणुहवदि।।७२।।

परमाणुमें जो स्निग्धता और रूक्षता रहती है उसमें अगुरुलघु गुणके कारण प्रत्येक समय परिणमन होता रहता है। इस परिणमनके कारण वह स्निग्धता और रूक्षता एकसे लेकर एक अंशकी वृद्धि होते होते अनंतपने तकका अनुभव करने लगती है ऐसा कहा गया है।

स्निग्धता और रूक्षता पुद्गलके गुण हैं। प्रत्येक गुणमें अनंत अविभाज्य शक्ति के अंश होते हैं जिन्हें गुणांश या अविभागप्रतिच्छेद्य कहते हैं। अगुरुलघु गुणकी सहायता पाकर इन गुणांशोंमें प्रत्येक समय हानि वृद्धि होती रहती है। इस हानि वृद्धिको आगममें षड्गुणी हानिवृद्धि कहा है। उसके संख्यातभागवृद्धि, असंख्यातभागवृद्धि, अनंतभागवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि, अनंतगुणवृद्धि, संख्यातभागहानि, असंख्यातभागहानि, अनंतभागहानि, संख्यातगुणहानि, असंख्यातगुणहानि और अनंतगुणहानि इस प्रकार नाम भी हैं। स्निग्ध और रूक्ष गुणके अंशोंमें जब वृद्धि होने लगती है तब एक अंशसे लेकर बढ़ते-बढ़ते अनंत अंशतक बढ़ जाते हैं और जब उनमें हानि होने लगती है तब घटते-घटते एक अंश तक रह जाते हैं। परमाणुमें जब स्निग्धता और रूक्षताके अंश घटते-घटते एक अंश तक रह जाते हैं तब वे जघन्य गुणके

धारक कहलाने लगते हैं। ऐसे परमाणुओंका दूसरे परमाणुके साथ बंध नहीं होता। हाँ, उन परमाणुओंकी स्निग्धता और रूक्षताके अंशमें जब पुनः वृद्धि हो जायेगी तब फिर वे बंधके योग्य हो जायेंगे। परमाणुओंका जो परस्परमें बंध होता है उसमें उनकी रूक्षता और स्निग्धता ही कारण मानी गयी है। परमाणुओंका यह बंध अपनेसे दो अधिक गुणवालेके साथ होता है ऐसा नियम है। यह बंध स्निग्धका स्निग्धके साथ, रूक्षका रूक्षके साथ तथा स्निग्धका रूक्षके साथ अथवा रूक्षका स्निग्धके साथ होता है। दो गुणवालेका चार गुणवालेके साथ अथवा तीन गुणवालेका पाँच गुणवालेके साथ बंध होता है। इस प्रकार गुणीकी समता अथवा विषमता दोनों ही अवस्थाओंमें बंध होता है, परंतु गुणोंका दो अधिक होना आवश्यक है। जघन्य गुणवाले तथा समान गुणवाले परमाणुओंका परस्परमें बंध नहीं होता।।७२।।

आगे किस प्रकारके स्निग्ध और रूक्ष गुणसे परमाणु पिंडपर्यायको प्राप्त होते हैं यह दिखलाते हैं --

णिद्धा वा लुक्खा वा, [1]अणुपरिणामा समा व विसमा वा।
समदो दुराधिगा वा, बज्झंति हि आदिपरिणामा।।७३।।

अपने शक्त्यंशोंसे परिणमन करनेवाले परमाणु यदि स्निग्ध हों अथवा रूक्ष हों, दो चार छह आदि अंशोंकी गिनतीकी अपेक्षा सम हों अथवा तीन पाँच सात आदि अंशोंकी गिनतीकी अपेक्षा विषम हों, अपने अंशोंसे दो अधिक हों और आदि अंश -- जघन्य अंश से रहित हो तो परस्पर बंधको प्राप्त होते हैं, अन्यथा नहीं।।७३।।

पूर्वोक्त बातको पुनः स्पष्ट करते हैं --

णिद्धत्तणेण दुगुणो, चदुगुणणिद्धेण बंधमणुहवदि।
लुक्खेण वा तिगुणिदो, अणु बज्झदि पंचगुणजुत्तो।।७४।।

स्निग्धतासे द्विगुण अर्थात् स्निग्धगुणके दो अंशोंको धारण करनेवाला परमाणु चतुर्गुण स्निग्धता के साथ अर्थात् स्निग्धताके चार अंश धारण करनेवाले परमाणुके साथ बंधका अनुभव करता है। और रूक्षता के त्रिगुण अर्थात् रूक्षगुणके तीन अंशोंको धारण करनेवाला परमाणु पाँचगुण युक्त रूक्ष अर्थात् रूक्षगुणके पाँच अंशोंको धारण करनेवाले परमाणुके साथ बँधता है -- मिलकर स्कंध दशाको प्राप्त होता है।

इस कथनसे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि स्निग्धका स्निग्धकेही साथ और रूक्षका रूक्षके ही साथ बंध होता है। यह तो द्विगुणाधिकका बंध होता है इसका उदाहरणमात्र है। वैसे बंध स्निग्ध स्निग्धका, रूक्ष रूक्षका, स्निग्ध रूक्षका और रूक्ष स्निग्धका होता है[2]।।७४।।

---

१. अणुपरिणामशब्देनात्र परिणामपरिणता अणवो गृह्यन्ते। ज. वृ.। २. अगले पृष्ठ पर देखिए ....

आगे आत्मा द्विप्रदेशादि पुद्गल स्कंधोंका कर्ता नहीं याह कहते हैं --

दुपदेसादी खंधा, सुहुमा वा बादरा ससंठाणा।
पुढविजलतेउवाऊ, सगपरिणामेहिं जायंते[२]।।७५।।

दो प्रदेशोंको आदि लेकर संख्यात, असंख्यात तथा अनंत पर्यंत प्रदेशोंको धारण करनेवाले, सूक्ष्म अथवा बादर, विभिन्न आकारोंसे सहित तथा पृथिवी, जल, अग्नि और वायुरूप स्कंध अपने-अपने स्निग्ध और रूक्ष गुणोंके परिणमनसे होते हैं।

तात्पर्य यह है कि पुद्गल स्कंधोंका कर्ता पुद्गल द्रव्य ही है, आत्मा नहीं है।।७५।।

आगे आत्मा पुद्गल स्कंधोंको खींचकर लानेवाला भी नहीं है यह बतलाते हैं --

ओगाढगाढणिचिदो, [३]पोग्गलकाएहिं सव्वदो लोगो।
सुहुमेहिं बादरेहिं य, [४]अप्पाउग्गेहिं जोग्गेहिं।।७६।।

यह लोक सब जगह सूक्ष्म, स्थूल, अप्रायोग्य -- कर्मवर्गणारूप होनेकी योग्यतासे रहित तथा योग्य -- कर्मवर्गणारूप होनेकी योग्यतासे सहित पुद्गल कायोंसे ठसाठस भरा हुआ है।

कर्मरूप होनेयोग्य पुद्गलवर्गणाएँ लोकके प्रत्येक प्रदेशमें विद्यमान हैं, अतः जब जीव रागद्वेषादि भावोंसे युक्त होता है तब अपने ही क्षेत्रमें विद्यमान कर्मरूप होनेयोग्य पुद्गल वर्गणाओंके साथ संबंधको प्राप्त हो जाता है। इससे यह सिद्ध होता हुआ कि[५] जीव जहाँ रहता है वहीं उसके बंधयोग्य पुद्गल भी रहते हैं, वह अन्य बाह्य स्थानसे उन्हें खींचकर नहीं लाता है।।७६।।

आगे आत्मा पुद्गलपिंडको कर्मरूप नहीं परिणमाता है यह कहते हैं --

कम्मत्तणपाओग्गा, खंधा जीवस्स परिणइं पप्पा।
गच्छंति कम्मभावं, ण दु ते जीवेण परिणमिदा।।७७।।

कर्मरूप होनेके योग्य पुद्गलस्कंध, जीवकी राग-द्वेषादिरूप परिणतिको प्राप्त कर स्वयं ही कर्मरूप

पिछले पृष्ठ से आगे १. उक्तं च --

'णिद्धा णिद्धेण बज्झंति लुक्खा लुक्खा य पोग्गला।
णिद्ध लुक्खा य बज्झंति रूवारूवीय पोग्गला।।'
'णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिएण, लुक्खस्स लुक्खेण दुराहिएण।
णिद्धस्स लुक्खेण हवेदि बंधो जहण्णवज्जे विसमे समे वा।।'

२. 'स्निग्धरूक्षत्वाभ्यां बन्धः।' 'न जघन्यगुणानाम्।' 'गुणसाम्ये सदृशानाम्।' 'द्व्यदिकादिगुणानां तु।' अध्याय ५, तत्त्वार्थसूत्र। ज. वृ. ३. पुग्गलकायेहिं ज. वृ.। ४. अप्पाओग्गेहिं ज. वृ.। ५. ततो ज्ञायते यत्रैव शरीरावगाढक्षेत्रे जीवस्तिष्ठति बन्धयोग्यपुद्गला अपि तत्रैव तिष्ठन्ति न च बहिर्भागाज्जीव आनयति। ज. वृ.।

परिणमनको प्राप्त हो जाते हैं। वे जीवके द्वारा नहीं परिणमाये जाते हैं।

कर्म पुद्गलमय है इसलिए उनका उपादान पुद्गलस्कंध ही है जीव केवल निमित्त है[1]।।७७।।

आगे शरीराकार परिणत पुद्गलपिंडोंका कर्ता जीव नहीं है यह कहते हैं --

ते ते कम्मत्तगदा, [2]पोग्गलकाया पुणो[3]हि जीवस्स।
संजायंते देहा, देहंतरसंकमं पप्पा।।७८।।

वे वे द्रव्यकर्मरूप परिणत हुए पुद्गल स्कंध अन्य पर्यायका संबंध पाकर फिर भी जीवके शरीररूप उत्पन्न हो जाते हैं।

जीवके परिणामोंका निमित्त पाकर जो पुद्गलकाय कर्मरूप परिणत होते हैं वे अन्य जन्ममें शरीराकार हो जाते हैं। यह सब क्रिया पुद्गल स्कंधोंमें अपने आपही होती है अतः जीव शरीराकार परिणत पुद्गलपिंडोंका भी कर्ता नहीं है।।७८।।

अब आत्माके शरीरका अभाव बतलाते हैं --

ओरालिओ य देहो, देहो वेउव्विओ य तेजयिओ।
आहारय कम्मइओ, [4]पोग्गलदव्वप्पगा सव्वे।।७९।।

औदारिक शरीर, वैक्रियिक शरीर, तैजस शरीर, आहारक शरीर और कार्मण शरीर ये सब शरीर पुद्गल द्रव्यात्मक हैं।

यतः शरीर पुद्गल द्रव्यात्मक है अतः आत्माके नहीं हैं।।७९।।

आगे यदि ऐसा है तो शरीरादि समस्त परद्रव्योंसे जुदा करनेवाला जीवका असाधारण -- उसी एकमें पाया जानेवाला लक्षण क्या है? ऐसा प्रश्न होनेपर उत्तर देते हैं --

अरसमरूवमगंधं, अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं, जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं।।८०।।

जो रसरहित हो, रूपरहित हो, गंधरहित हो, अव्यक्त हो -- स्पर्शरहित हो, शब्दरहित हो, इंद्रियोंके द्वारा जिसका ग्रहण नहीं हो सकता हो, सब प्रकारके आकारोंसे रहित हो और चेतनागुणसे सहित हो उसे जीव जानो।

पाँच प्रकारके रस, पाँच प्रकारके रूप, दो प्रकारके गंध, आठ प्रकारके स्पर्श, अनेक प्रकारके

---

१. 'जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन।।' -- पु. सि.

२. पुग्गलकाया .ज. वृ. । ३. पुणो वि ज. वृ. । ४. पुग्गल ज. वृ. ।

शब्द तथा द्विकोण, त्रिकोण आदि विविध प्रकारके संस्थान पुद्गलमें ही पाये जाते हैं और मूर्त होनेसे उसीका इंद्रियोंके द्वारा ग्रहण -- ज्ञान होता है, परंतु जीव उससे भिन्न है, उसका एक चेतना ही असाधारण गुण है जो समस्त जीवोंमें पाया जाता है और जीवको छोड़कर किसी अन्य द्रव्यमें नहीं पाया जाता। वह जीव अमूर्तिक है अतः इंद्रियोंके द्वारा उसका साक्षात्कार नहीं हो सकता है।।८०।।

आगे अमूर्त आत्मामें जब स्निग्ध और रूक्ष गुणका अभाव है तब उसका पौद्गलिक कर्मोंके साथ बंध कैसे होता है? यह पूर्वपक्ष रखते हैं --

मुत्तो रूवादिगुणो, बज्झदि फासेहिं अण्णमण्णेहिं।
तव्विवरीदो अप्पा, बंधदि किध पोग्गलं कम्मं।।८१।।

रूपादि गुणोंसे संपन्न -- मूर्त पुद्गल द्रव्य, स्निग्धत्व-रूक्षत्व स्पर्शसे परस्परमें बंधको प्राप्त होता है यह ठीक है, परंतु उससे विपरीत आत्मा पौद्गलिक कर्मको किस प्रकार बाँधता है?।।८१।।

आगे अमूर्तिक आत्माके भी बंध होता है ऐसा सिद्धांत पक्ष रखते हैं --

रूवादिएहिं रहिदो, पेच्छदि जाणादि रूवमादीणि।
दव्वाणि गुणे य जधा, तध बंधो तेण जाणीहि।।८२।।

रूपादि गुणोंसे रहित आत्मा जिस प्रकार रूप आदि से सहित घटपटादि पुद्गल द्रव्यों और उनके गुणोंको देखता तथा जानता है उसी प्रकार रूपादि गुणोंसे युक्त कर्मरूप पुद्गल द्रव्यके साथ इसका बंध होता है ऐसा जानो।

जिस प्रकार रूपादिसे रहित आत्मा रूपादि पदार्थोंको जान सकता है, देख सकता है उसी प्रकार रूपादिसे रहित आत्मा रूपादि गुणोंसे युक्त कर्मरूप पुद्गलोंको ग्रहण कर सकता है। ऐसा वस्तुका स्वभाव है। अतः इसमें कोई बाधा नहीं दिखती। अथवा इसका भाव इस प्रकार समझना चाहिए -- जैसे कोई बालक मिट्टीके बैलको अपना समझकर देखता है, जानता है, परंतु वह मिट्टीका बैल उस बालकसे सर्वथा जुदा है। जुदा होनेपर भी यदि कोई उस मिट्टीके बैलको तोड़ देता है तो वह बालक दुःखी होता है। इसी प्रकार कोई गोपाल सचमुचके बैलको देखता है, जानता है, परंतु वह बैल उस गोपालसे सर्वथा जुदा है। जुदा होनेपर भी यदि कोई उस बैलको चुरा लेता है या नष्ट कर देता है तो वह गोपाल दुःखी होता है। जबकि उक्त दोनोंही प्रकारके बैल बालक तथा गोपालसे जुदे हैं तब वे उनके अभावमें दुःखी क्यों होते हैं? इससे यह बात विचारमें आती है कि वे बालक और गोपाल उन बैलोंको अपना देखते जानते हैं। इस कारण अपने परिणामोंसे बँध रहे हैं। उनका ज्ञान बैलके निमित्तसे तदाकार परिणत हो रहा है इसलिए परस्वरूप बैलोंसे संबंधका व्यवहार आ जाता है। इसी प्रकार इस आत्माका कर्मरूप पुद्गलके साथ कुछ संबंध नहीं है, परंतु अनादि कालसे एक क्षेत्रावगाह कर ठहरे हुए पुद्गलोंके निमित्तसे जीवमें राग-द्वेषादि

भाव पैदा होते हैं। इन्हींके कारण कर्मोंका बंध करनेवाला कहलाता है। 'गाय बाँध दी गयी है' यहाँ तत्त्वदृष्टिसे विचार करते हैं तब बंधन रस्सीका रस्सीके साथ है, न कि रस्सीका गायके साथ। फिर भी 'गाय बाँध दी गयी ' ऐसा व्यवहार होता है। उसका भी कारण यह है कि जब तक रस्सीका रस्सीके साथ संबंध रहेगा तब तक गाय उस स्थानसे अन्यत्र नहीं जा सकेगी। इसी प्रकार नवीन कर्मोंका संबंध आत्माका एक क्षेत्रावगाहमें स्थित पुरातन कर्मोंके साथ होता है, न कि आत्माके साथ, फिर भी आत्मा बद्ध कहलाता है। उसका भी कारण यह है कि जब तक पुरातन कर्मोंके साथ नवीन कर्मोंका संबंध जारी रहता है तब तक आत्मा स्वतंत्र नहीं रह सकता। इन दोनोंमें ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक संबंध है।।८२।।

आगे भाव बंधका स्वरूप कहते हैं --

उवओगमओ जीवो, मुज्झदि रज्जेदि वा पदुस्सेदि।
पप्पा विविधे विसए, जो हि पुणो तेहिं संबंधो।।८३।।

जो उपयोग स्वभाववाला जीव विविध प्रकारके -- इष्ट अनिष्ट विषयोंको पाकर मोहित होता है -- उन्हें अपना मानने लगता है, राग करता है अथवा द्वेष करता है वह उन्हीं भावोंसे बंधको प्राप्त होता है।

मोह -- परपदार्थको अपना मानना, राग -- इष्ट वस्तुओंके मिलनेपर प्रसन्न होना और द्वेष -- प्रतिकूल सामग्री मिलनेपर विषादयुक्त होना ये तीनों भाव ही भावबंध हैं।।८३।।

अब भावबंधके अनुसार द्रव्यबंधका स्वरूप बतलाते हैं --

भावेण जेण जीवो, पेच्छदि जाणादि आगदं विसए।
रज्जदि तेणेव पुणो, बज्झदि कम्मत्ति उवएसो।।८४।।

जीव इंद्रियोंके विषयमें आये हुए इष्ट अनिष्ट पदार्थोंको जिस भावसे जानता है, देखता है और राग करता है उसी भावसे पौद्गलिक द्रव्यकर्मका बंध होता है ऐसा उपदेश है।

मोहकर्मके दो भेद हैं -- १. दर्शन मोहनीय और २. चारित्र मोहनीय। दर्शनमोहके उदयसे यह जीव आत्मस्वरूपको भूलकर परपदार्थमें आत्मबुद्धि करने लगता है इसे मोह अथवा मिथ्या दर्शन कहते हैं। चारित्र मोहनीयके उदयसे यह जीव इष्ट पदार्थोंको पाकर प्रसन्नताका अनुभव करने लगता है और अनिष्ट पदार्थोंको पाकर दुःखी होता है। जीवकी इस परिणतिको राग, द्वेष अथवा कषाय कहते हैं। द्विविध मोहके उदयसे आत्मामें जो विकार होता है वह भावबंध कहलाता है। इस भावबंधके होनेपर आत्माके साथ एक क्षेत्रावगाह रूपसे स्थित कार्मण वर्गणामें कर्मरूप परिणमन हो जाता है, इसे द्रव्यबंध कहते हैं। इस कथनसे यह सिद्ध हुआ कि द्रव्यबंध भावबंधपूर्वक होता है।।८४।।

आगे पुद्गलबंध, जीवबंध और उभयबंधका स्वरूप बतलाते हैं --

फासेहिं पोग्गलाण[1], बंधो जीवस्स रागमादीहिं।
अण्णोण्णं अवगाहो, [2]पोग्गलजीवप्पगो अप्पा।।८५।।

यथायोग्य स्निग्ध ओर रूक्ष स्पर्श गुणोंके द्वारा पूर्व और नवीन कर्मरूप पुद्गल परमाणुओंका जो बंध है वह पुद्गलबंध है, रागादि भावोंसे जीवमें जो विकार उत्पन्न होता है वह जीवबंध है और पुद्गल तथा जीवका जो परस्परमें अवगाह -- प्रदेशानुप्रवेश होता है वह पुद्गलजीवबंध -- उभयबंध कहा गया है।।८५।।

आगे द्रव्यबंध भावबंधहेतुक है यह सिद्ध करते हैं --

सपदेसो सो अप्पा, तेसु पदेसेसु पोग्गला[3] काया।
पविसंति जहाजोग्गं, तिट्ठंति[4] य जंति बज्झंति।।८६।।

वह आत्मा लोकाकाशके तुल्य असंख्यातप्रदेशी होनेसे सप्रदेश है, उन असंख्यात प्रदेशोंमें कर्मवर्गणाके योग्य पुद्गलपिंड काय वचन और मनोयोगके अनुसार प्रवेश करते हैं, बंधको प्राप्त होते हैं, स्थितिको प्राप्त होते हैं और फिर चले जाते हैं -- निर्जीर्ण हो जाते हैं।

आगममें द्रव्यकर्मबंधकी चार अवस्थाएँ बतलायी हैं -- १. प्रदेशबंध, २. प्रकृतिबंध, ३. स्थितिबंध और ४. अनुभागबंध। तीव्र, मंद अथवा मध्यम योगोंका आलंबन पाकर आत्माके असंख्यात प्रदेशोंमें जो कर्मपिंडका प्रवेश होता है उसे प्रदेशबंध कहते हैं, प्रविष्ट कर्मपिंड आत्मप्रदेशोंके साथ संबंधको प्राप्त होते हैं उसे प्रकृतिबंध कहते हैं, कषायभावके अनुसार कर्मपिंड उन आत्मप्रदेशोंमें यथायोग्य समयतक स्थित रहते हैं उसे स्थितिबंध कहते हैं और आबाधाकाल पूर्ण होनेपर कर्मपिंड अपना फल देते हुए खिरने लगते हैं उसे अनुभागबंध कहते हैं। यह चारों प्रकारका द्रव्यबंध भावबंधपूर्वक होता है।।८६।।

आगे द्रव्यबंधका हेतु होनेसे रागादि परिणामरूप भावबंध ही निश्चयसे बंध है यह सिद्ध करते हैं --

रत्तो बंधदि कम्मं, मुच्चदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा।
एसो बंधसमासो, जीवाणं जाण णिच्छयदो।।८७।।

रागी जीव कर्मोंको बाँधता है और रागरहित आत्मा कर्मोंसे मुक्त होता है। संसारी जीवोंका यह बंधतत्त्वका संक्षेप कथन निश्चय से जानो।

निश्चयसे बंध और मोक्षका संक्षिप्त कारण रागका सद्भाव तथा रागका अभाव ही है, इसलिए रागभावको दूर करनेका प्रयत्न करना चाहिए।।८७।।

आगे परिणाम ही द्रव्यबंधके साधक हैं यह बतलाते हुए परिणामोंकी विशेषताका वर्णन करते हैं --

---

१. पुग्गलाणं ज. वृ.। २. पुग्गल ज. वृ.। ३. पुग्गला ज. वृ.। ४. चिट्ठंति ज. वृ.।

परिणामादो बंधो, परिणामो रागदोसमोहजुदो।
असुहो मोहपदेसो, सुहो व असुहो हवदि रागो।।८८।।

जीवके परिणामसे द्रव्यबंध होता है, वह परिणाम राग द्वेष तथा मोहसे सहित होता है, उनमें मोह और द्वेष अशुभ हैं तथा राग शुभ और अशुभ दोनों प्रकारका है।।८८।।

आगे द्रव्यरूप पुण्यपाप बंधका कारण होनेसे शुभाशुभ परिणामोंकी क्रमशः पुण्य-पाप संज्ञा है और शुभाशुभ भावसे रहित शुद्धोपयोगरूप परिणाम मोक्षका कारण है यह कहते हैं --

सुहपरिणामो पुण्णं, असुहो पावत्ति भणियमण्णेसु।
परिणामो णण्णगदो, दुक्खक्खयकारणं समये।।८९।।

निज शुद्धात्म द्रव्यसे अन्य -- बहिर्भूत शुभाशुभ पदार्थोंमें जो शुभ परिणाम है उसे पुण्य और जो अशुभ परिणाम है उसे पाप कहा है। तथा अन्य पदार्थोंसे हटकर निजशुद्धात्म द्रव्यमें जो परिणाम है वह आगममें दुःखक्षयका कारण बतलाया गया है। ऐसा परिणाम शुद्ध कहलाता है।।८९।।

आगे जीवकी स्वद्रव्यमें प्रवृत्ति और परद्रव्यसे निवृत्ति करनेके लिए स्वपरका भेद दिखलाते हैं --

भणिदा पुढविप्पमुहा, जीवनिकायाध थावरा य तसा।
अण्णा ते जीवादो, जीवोवि य तेहिंदो अण्णो।।९०।।

पृथिवीको आदि लेकर स्थावर और त्रसरूप जो जीवोंके छह निकाय कहे गये हैं वे सब जीवसे भिन्न हैं और जीव भी उनसे भिन्न हैं।

यह त्रस और स्थावरका विकल्प शरीरजन्य है। वास्तवमें जीव न त्रस है न स्थावर है। वह तो शुद्ध चैतन्य घनानंदरूप आत्मद्रव्य मात्र है।।९०।।

आगे स्व-परका भेदज्ञान होनेसे जीवकी स्वद्रव्यमें प्रवृत्ति होती है और स्वपरका भेदज्ञान न होनेसे परद्रव्यमें प्रवृत्ति होती है यह दिखलाते हैं --

जो ण विजाणदि एवं, परमप्पाणं सहावमासेज्ज।
कीरदि अज्झवसाणं, अहं ममेदत्ति मोहादो।।९१।।

जो जीव इस प्रकार स्वभावको प्राप्त कर पर तथा आत्माको नहीं जानता वह मोहसे 'मैं शरीरादिरूप हूँ, ये शरीरादि मेरे हैं' ऐसा मिथ्या परिणाम करता है।

जबतक इस जीवको भेदविज्ञान नहीं होता तब तक यह दर्शनमोहके उदयसे 'मैं शरीरादिरूप हूँ' ऐसा, और चारित्रमोहके उदयसे 'ये शरीरादि मेरे हैं -- मैं इनका स्वामी हूँ' ऐसा विपरीताभिनिवेश करता रहता है। यह विपरीताभिनिवेश ही संसारभ्रमणका कारण है, इसलिए इसे दूर करनेके लिए भेदविज्ञान

प्राप्त करना चाहिए।।९१।।

आगे आत्माका कर्म क्या है? इसका निरूपण करते हैं --

कुव्वं सभावमादा, हवदि हि कत्ता सगस्स भावस्स।
पोग्गलदव्वमयाणं, ण दु कत्ता सव्वभावाणं।।९२।।

अपने स्वभावको करता हुआ आत्मा निश्चयसे स्वभावका ही -- स्वकीय चैतन्य परिणामका ही कर्ता है, पुद्गल द्रव्यरूप कर्म तथा शरीरादि समस्त भावोंका कर्ता नहीं है।

निश्चयसे कर्तृ-कर्मका व्यवहार वहीं बनता है जहाँ व्याप्य व्यापक होता है। जीव व्यापक है और उसके चैतन्य परिणाम व्याप्य हैं, अतः जीव स्वकीय चैतन्य परिणामका ही कर्ता हो सकता है। ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म और औदारिक शरीरादि नोकर्म पुद्गल द्रव्य हैं। इनका जीवके साथ व्याप्य-व्यापक भाव किसी तरह सिद्ध नहीं है अतः वह इनका कर्ता त्रिकालमें भी नहीं हो सकता।।९२।।

आगे पुद्गल परिणाम आत्माका कर्म क्यों नहीं? यह शंका दूर करते हैं --

गेण्हदि णेव ण मुंचदि, करेदि ण हि पोग्गलाणि कम्माणि।
जीवो पोग्गलमज्झे, वट्टण्णवि सव्वकालेसु।।९३।।

जीव सदाकाल पुद्गलके बीचमें रहता हुआ भी पौद्गलिक कर्मोंको न ग्रहण करता है, न छोड़ता है और न करता ही है।

जिस प्रकार अग्नि लोहपिंडके बीचमें रहकर भी उसे न ग्रहण करती है, न छोड़ती है और न करती है उसी प्रकार यह जीव भी पुद्गलके बीच रहकर भी न उसे ग्रहण करता है न छोड़ता है और न करता ही है। संसारके सर्व पदार्थ स्वतंत्र हैं और अपने उपादानसे होनेवाले उनके परिणमन भी स्वतंत्र हैं, फिर जीव पुद्गल द्रव्यका कर्ता कैसे हो सकता है?।।९३।।

आगे यदि ऐसा है तो आत्मा पुद्गल कर्मोंके द्वारा क्यों ग्रहण किया जाता और क्यों छोड़ा जाता? यह बतलाते हैं --

स इदाणिं कत्ता सं, सगपरिणामस्स दव्वजादस्स।
आदीयदे कदाई, विमुच्चदे कम्मधूलीहिं।।९४।।

वह आत्मा इस समय -- संसारी दशामें आत्मद्रव्यसे उत्पन्न हुए अपने ही अशुद्ध परिणामोंका कर्ता होता हुआ कर्मरूप धूलिके द्वारा ग्रहण किया जाता है और किसी कालमें छोड़ दिया जाता है।

जब आत्मा अपने आपमें उत्पन्न हुए रागादि अशुद्ध भावोंको करता है तब कर्मरूप धूली उसे आवृत कर देती है और जब आबाधा पूर्ण हो जाती है तब वही कर्मरूपी धूली उस आत्मासे जुदी हो जाती है -- उसे छोड़ देती है। इन दोनोंका ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। यथार्थमें आत्मा न कर्मोंको ग्रहण

करती है और न कर्म आत्माको ग्रहण करते हैं। यदि ग्रहण करने लगें तो दोनोंका एक अस्तित्व हो जावे, परंतु ऐसा त्रिकालमें भी नहीं हो सकता, क्योंकि सत्‌का कभी नाश नहीं होता और असत्‌की उत्पत्ति नहीं होती।।९४।।

आगे पुद्‌गल कर्मोंमें ज्ञानावरणादि रूप विचित्रता किसकी की हुई है यह निरूपण करते हैं --

परिणमदि जदा अप्पा, सुहम्मि रागदोसजुदो।
तं पविसदि कम्मरयं, णाणावरणादि भावेहिं।।९५।।

जिस समय यह आत्मा रागद्वेषसे सहित होता हुआ शुभ अथवा अशुभ भावोंमें परिणमन करता है उसी समय कर्मरूपी धूली ज्ञानावरणादि आठ कर्म होकर आत्मामें प्रवेश करती है।

जिस प्रकार वर्षा ऋतुमें जब नूतन मेघका जल भूमिके साथ संयोग करता है तब वहाँके अन्य पुद्‌गल अपने आप विविध रूप होकर हरी घास, शिलींध्र तथा इंद्रगोप कीटक आदिरूप परिणमन करने लगते हैं, इसी प्रकार जब रागी द्वेषी आत्मा शुभ-अशुभ भावोंमें परिणमन करता है तब उसका निमित्त पाकर कर्मरूपी धूलीमें ज्ञानावरणादिरूप विचित्रता स्वयं उत्पन्न हो जाती है। तात्पर्य यह हुआ कि पुद्‌गलात्मक कर्मोंमें जो विचित्रता देखी जाती है उसका कर्ता पुद्‌गल ही है, जीव नहीं [1]।।९५।।

आगे अभेदनयसे बंधके कारणभूत रागादिरूप परिणमन करनेवाला आत्मा ही बंध कहलाता है यह कहते हैं --

सपदेसो सो अप्पा, कसायदो मोहरागदोसेहिं।
कम्मरजेहिं सिलिट्ठो, बंधोत्ति परूविदो समये।।९६।।

जो लोकाकाशके बराबर असंख्यात प्रदेशोंसे सहित है तथा मोह राग एवं द्वेषसे कषायित -- कषैला होता हुआ कर्मरूपी धूलीसे श्लिष्ट हो रहा है -- संबद्ध हो रहा है वह आत्मा ही बंध है ऐसा आगममें कहा गया है।

जिसप्रकार अनेक प्रदेशोंवाला वस्त्र, लोध्र, फिटकरी आदि पदार्थोंके द्वारा कषैला होकर जब लाल पीले आदि रंगोंमें रँगा जाता है तब वह लाल, पीला आदि हो जाता है। उस समय 'यह वस्त्र लाल या पीले रंगसे रँगा हुआ है' ऐसा न कहकर 'लाल वस्त्र', 'पीला वस्त्र' यही व्यवहार होने लगता है। उसी प्रकार जब यह आत्मा भावकर्मसे कषायित होकर कर्मरजसे आश्लिष्ट होता है -- भावबंधपूर्वक द्रव्यबंधको

---

१. ९५ वीं गाथाके बाद ज. वृ. में निम्न गाथा अधिक व्याख्यात है --
'सुपयडीण विसोही तिव्वो असुहाण संकिलेसम्मि।
विपरीदो दु जहण्णो अणुभागो सव्वपयडीणं।।'

प्राप्त होता है तब 'यह आत्माका बंध है' ऐसा न कहकर अभेदनयसे 'यह बंध है' ऐसा कहा जाने लगता है। इस दृष्टिसे आत्मा ही बंध है ऐसा कथन सिद्ध हो जाता है।।९६।।

आगे निश्चयबंध और व्यवहारबंध का स्वरूप दिखलाते हैं --

एसो बंधसमासो, जीवाणं णिच्चएण णिद्दिट्ठो।
अरहंतेहिं जदीणं, ववहारो अण्णहा भणिदो।।९७।।

जीवोंके जो रागादि भाव हैं वे ही निश्चयसे बंध हैं इस प्रकार बंध तत्त्वकी संक्षिप्त व्याख्या अर्हंत भगवान्‌ने मुनियोंके लिए बतलायी है। व्यवहारबंध इससे विपरीत कहा है अर्थात् आत्माके साथ कर्मोंका जो एक क्षेत्रावगाह होता है वह व्यवहारबंध है।।९७।।

आगे अशुद्धनयसे अशुद्ध आत्माकी ही प्राप्ति होती है ऐसा उपदेश करते हैं --

ण जहदि जो दु ममत्तिं, अहं ममेदत्ति देहदविणेसु।
सो सामण्णं चत्ता, पडिवण्णो होइ उम्मग्गं।।९८।।

जो पुरुष शरीर तथा धनादिकमें 'मैं इन रूप हूँ' और 'ये मेरे हैं' इस प्रकारकी ममत्वबुद्धिको नहीं छोड़ता है वह शुद्धात्मपरिणति रूप मुनिमार्गको छोड़कर अशुद्ध परिणतिरूप उन्मार्गको प्राप्त होता है।

शरीर तथा धनादिकको अपना बतलाना अशुद्ध नयका काम है, इसलिए जो अशुद्ध नयसे शरीरादिमें अहंता और ममताको नहीं छोड़ता वह मुनि पदसे भ्रष्ट होकर मिथ्यामार्गको प्राप्त होता है अतः अशुद्ध नयका आलंबन छोड़कर सदा शुद्ध नयका ही आलंबन ग्रहण करना चाहिए।।९८।।

आगे शुद्धनयसे शुद्धात्माका लाभ होता है ऐसा निश्चय करते हैं --

णाहं होमि परेसिं, ण मे परे संति णाणमहमेक्को।
इदि जो झायदि झाणे, सो अप्पाणं हवदि झादा।।९९।।

'मैं शरीरादि परद्रव्योंका नहीं हूँ और ये शरीरादि परपदार्थ भी मेरे नहीं हैं। मैं तो एक ज्ञानरूप हूँ' इस प्रकार जो ध्यानमें अपने शुद्ध आत्माका चिंतन करता है वही ध्याता है -- वास्तविक ध्यान करनेवाला है।

शुद्धनय शुद्धात्माको शरीर धनादि बाह्य पदार्थोंसे भिन्न बतलाता है। इसलिए उसका आलंबन लेकर जो अपने आपको बाह्य पदार्थोंसे असंपृक्त --शुद्ध -- टंकोत्कीर्ण ज्ञान स्वभाव अनुभव करता है वह शुद्धात्माको प्राप्त होता है और वही सच्चा ध्याता कहलाता है।।९९।।

आगे नित्य होनेसे शुद्ध आत्मा ही ग्रहण करनेयोग्य है ऐसा उपदेश देते हैं --

एवं णाणप्पाणं, दंसणभूदं अदिंदियमहत्थं।
धुवमचलमणालंबं, मण्णेऽहं अप्पगं सुद्धं।।१००।।

मैं आत्माको ऐसा मानता हूँ कि वह ज्ञानात्मक है, दर्शनरूप है, अतींद्रिय है, सबसे महान् है, नित्य है, अचल है, परपदार्थोंके आलंबनसे रहित है और शुद्ध है।।१००।।

आगे विनाशी होनेके कारण आत्माके सिवाय अन्य पदार्थ प्राप्त करनेयोग्य नहीं हैं ऐसा उपदेश देते हैं --

देहा वा दविणा वा, सुहदुक्खा वाध सत्तुमित्तजणा।
जीवस्स ण संति धुवा, धुवोवओगप्पगा अप्पा।।१०१।।

शरीर अथवा धन, अथवा सुख-दुःख, अथवा शत्रु-मित्र जन, ये सभी जीवके अविनाशी नहीं हैं। केवल ज्ञान दर्शनस्वरूप शुद्ध आत्मा ही अविनाशी है।

शरीर, धन तथा शत्रु-मित्रजन तो स्पष्ट जुदे ही हैं और इन्हें नष्ट होते प्रत्यक्ष देखते भी हैं, परंतु इच्छाकी पूर्तिसे होनेवाला सुख और इच्छाके सद्भावमें उत्पन्न होनेवाला दुःख भी आत्मासे जुदा है अर्थात् आत्माका स्व स्वभाव नहीं है। तथा संयोगजन्य है अतः क्षणभंगुर है। जो सुख इच्छाके अभावमें उत्पन्न होता है उसमें किसी बाह्य पदार्थके आलंबनकी अपेक्षा नहीं रहती अतः वह नित्य है तथा स्वस्वभावरूप है। परंतु ऐसा सुख वीतराग -- सर्वज्ञदशाके प्रकट हुए बिना प्राप्त नहीं हो सकता।।१०१।।

आगे शुद्धात्माकी उपलब्धिसे क्या होता है ? यह कहते हैं --

जो एवं जाणित्ता, झादि परं अप्पगं विसुद्धप्पा।
सागाराणागारो, खवेदि सो मोहदुग्गंठिं।।१०२।।

जो गृहस्थ अथवा मुनि ऐसा जानकर परमात्मा -- उत्कृष्ट आत्मस्वरूपका ध्यान करता है वह विशुद्धात्मा होता हुआ मोहकी दुष्ट गाँठको क्षीण करता है -- खोलता है।

शुद्धात्माकी उपलब्धिका फल अनादिकालीन मोहकी दुष्ट गाँठको खोलना है ऐसा जानकर उसकी प्राप्तिके लिए सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए।।१०२।।

आगे मोहकी गाँठ खुलनेसे क्या होता है? यह कहते हैं --

जो णिहदमोहगंठी, रागपदोसे खवीय सामण्णे।
होज्जं समसहुदुक्खो, सो सोक्खं अक्खयं लहदि।।१०३।।

जो पुरुष मोहकी गाँठको खोलता हुआ मुनि अवस्थामें राग द्वेषको नष्टकर सुख-दुःखमें समान दृष्टिवाला होता है वह अविनाशी मोक्षसुखको पाता है।

मोक्षका अविनाशी सुख उसी जीवको प्राप्त हो सकता है जो सर्वप्रथम दर्शनमोहकी गाँठको

खोलकर सम्यग्दृष्टि बनता है, फिर मुनि अवस्थामें राग और द्वेषको क्षीण करता हुआ सुख-दुःखमें मध्यस्थ रहता है-- अनुकूल प्रतिकूल सामग्रीके मिलनेपर हर्ष-विषादका अनुभव नहीं करता है।।१०३।।

आगे एकाग्ररूपसे चिंतन करना ही जिसका लक्षण है ऐसा ध्यान आत्माकी अशुद्ध दशा को नहीं रहने देता ऐसा निश्चय करते हैं --

जो खविदमोहकलुसो, विसयविरत्तो मणो णिरुंभित्ता।
समवट्ठिदो सहावे, सो अप्पाणं हवदि धादा[1]।।१०४।।

जिसने मोहजन्य कलुषताको दूर कर दिया है, जो पंचेंद्रियोंके विषयोंसे विरक्त है और मनको रोककर जो स्वस्वभावमें सम्यक् प्रकारसे स्थित है वही पुरुष आत्माका ध्यान करनेवाला है।

जब तक इस पुरुषका हृदय मिथ्यादर्शनके द्वारा कलंकित हो रहा है, विषयकषायमें इसकी आसक्ति बढ़ रही है, पवनवेगसे ताड़ित ध्वजाके समान जबतक इसका चित्त चंचल रहता है और विविध इच्छाओंके कारण जब तक इसका ज्ञानोपयोग आत्मस्वभावमें स्थिर न रहकर इधर उधर भटकता रहता है तबतक यह पुरुष शुद्ध आत्मस्वरूपका ध्यान नहीं कर सकता यह निश्चित है।।१०४।।

आगे जिन्हें शुद्धात्मतत्त्वकी प्राप्ति हो गयी है ऐसे सर्वज्ञ भगवान् किसका ध्यान करते हैं ऐसा प्रश्न प्रकट करते हैं --

णिहदघणघादिकम्मो, पच्चक्खं सव्वभावतच्चण्हू।
णेयंतगदो समणो, झादि किमट्ठं[2] असंदेहो।।१०५।।

जिन्होंने अत्यंत दृढ घातिया कर्मोंको नष्ट कर दिया है, जो प्रत्यक्षरूपसे समस्त पदार्थोंको जाननेवाले हैं, जो जाननेयोग्य पदार्थोंके अंतको प्राप्त हैं तथा संदेहरहित हैं ऐसे महामुनि केवली भगवान् किसलिए अथवा किस पदार्थका ध्यान करते है?।।१०५।।

आगे केवली भगवान् इसका ध्यान करते हैं यह बतलाते हुए पूर्वोक्त प्रश्नका समाधान प्रकट करते हैं --

सव्वाबाधविजुत्तो, समंतसव्वक्खसोक्खणाणड्ढो।
भूदो अक्खातीदो, झादि अणक्खो परं सोक्खं।।१०६।।

जो सब प्रकारकी पीड़ाओंसे रहित हैं, सर्वांगपरिपूर्ण आत्मजन्य अनंत सुख तथा अनंत ज्ञानसे युक्त हैं और स्वयं इंद्रियरहित होकर इंद्रियातीत हैं -- इंद्रियज्ञानके अविषय हैं ऐसे केवली भगवान् अनुकूलतारूप उत्कृष्ट सुखका ध्यान करते हैं।

सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती और व्युपरतक्रियानिवर्ती नामक दो शुक्लध्यान केवली भगवान्के तेरहवें

---

१. झादा ज. वृ. । २. कमट्ठं ज. वृ.

और चौदहवें गुणस्थानमें होते हैं ऐसा आगममें लिखा है। ध्यानका लक्षण एकाग्रचिंतानिरोध होता है -- किसी पदार्थमें मनोव्यापारको स्थिर करना ध्यान कहलाता है। जबकि केवली भगवान् त्रिलोक और त्रिकालसंबंधी समस्त पदार्थोंको एक साथ जान रहे हैं तब उनके किसी एक पदार्थमें एकाग्रचिंतानिरोधरूप ध्यान किस प्रकार संभव हो सकता है? यह प्रश्न स्वाभाविक है। इसका उत्तर श्री कुंदकुंद भगवान्ने इस प्रकार दिया है कि सर्वज्ञदेव जो परम सुखका अनुभव करते हैं वही उनका ध्यान है। यहाँ ऐसा नहीं समझना चाहिए कि उन्हें परमसुख प्राप्त नहीं है इसलिए उनका ध्यान करते हैं। परमसुख तो उन्हें घातिचतुष्कका क्षय होते ही प्राप्त हो जाता है इसलिए उसकी प्राप्तिके लिए ध्यान करते हैं यह बात नहीं है। किंतु स्थिरीभूत ज्ञानसे उसका अनुभव करते हैं ऐसा भाव ग्रहण करना चाहिए। वास्तवमें स्थिरीभूत ज्ञानको ध्यान कहते हैं। ज्ञानमें अस्थिरताके कारण कषाय और योग होते हैं। इसमेंसे कषाय तो दशम गुणस्थानतक ही रहती है, उसके आगे योगजन्य अस्थिरता रहती है जो तेरहवें गुणस्थानके अंतमें नष्ट होने लगती है और चौदहवें गुणस्थानमें बिलकुल नष्ट हो जाती है। अतः अस्थिरताके नष्ट जानेसे उनका ज्ञान स्थिरीभूत हो जाता है। यही उनका ध्यान है।।१०६।।

आगे यह शुद्धात्माकी प्राप्ति ही मोक्षमार्ग है ऐसा निश्चय करते हैं --

एवं जिणा जिणिंदा, सिद्धा मग्गं समुट्ठिदा समणा।
जादा णमोत्थु तेसिं, तस्स य णिव्वाणमग्गस्स।।१०७।।

यतः सामान्य केवली, तीर्थंकर केवली तथा अन्य सामान्य मुनि इसी शुद्धात्मोपलब्धिरूप मार्गका अवलंबन कर सिद्ध हुए हैं अतः उन्हें और उस मोक्षमार्गको मेरा नमस्कार हो।।१०७।।

आगे श्री कुंदकुंद स्वामी स्वयं इसी मोक्षमार्गकी परिणतिको स्वीकृत करते हुए अपनी भावना प्रकट करते हैं --

तम्हा तध[1] जाणित्ता, अप्पाणं जाणगं [2]सभावेण।
परिवज्जामि ममत्तिं, उवट्ठिदो णिम्ममत्तम्मि।।१०८।।

इसलिए मैं भी उन्हीं सामान्य केवली तथा तीर्थंकर केवली आदिके समान स्वभावसे ज्ञायक आत्माको जानकर ममताको छोड़ता हूँ और ममताके अभावरूप वीतरागभावमें अवस्थित होता हूँ।।१०८।।[3]

इति भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यकृते प्रवचनसार परमागमे ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापनो नाम द्वितीयः श्रुतस्कन्धः समाप्तः।

---

१. तह ज. वृ. । २. सहावेण ज.वृ.

३. १०८ वीं गाथाके बाद ज. वृ. में निम्नलिखित गाथाकी व्याख्या अधिक मिलती है --

'दंसणसंसुद्धाणं सम्मण्णाणोवजोगजुत्ताणं।
अव्वाबाधरदाणं णमो णमो सिद्धसाहूणं।।'

चारित्राधिकारः

आगे श्री कुंदकुंदस्वामी दुःखोंसे छुटकारा चाहनेवाले पुरुषोंको मुनिपद ग्रहण करनेकी प्रेरणा करते हैं --

एवं पणमिय सिद्धे, जिणवरवसहे पुणो पुणो समणे।
पडिवज्जद सामण्णं, जदि इच्छदि दुक्खपरिमोक्खं।।१।।

हे भव्यजीवो! यदि आप लोग दुःखोंसे छुटकारा चाहते हैं तो इस प्रकार सिद्धोंको, जिनवरोंमें श्रेष्ठ तीर्थंकर अर्हंतोंको और आचार्योपाध्याय सर्व साधुरूप मुनियोंको बार-बार प्रणाम कर मुनिपदको प्राप्त करें।।१।।

मुनि होनेका इच्छुक पुरुष पहले क्या करे यह उपदेश देते हैं --

आपिच्छ बंधुवग्गं, विमोइदो गुरुकलत्तपुत्तेहिं।
आसिज्ज णाणदंसण,चरित्ततववीरियायारं।।२।।
समणं गणिं गुणड्ढं, कुलरूववयोविसिट्ठमिट्ठदरं।
समणेहि तं पि पणदो, पडिच्छ मं चेदि अणुगहिदो।।३।।

जो मुनि होना चाहता है वह सर्वप्रथम अपने बंधुवर्गसे पूछकर गुरु, स्त्री तथा पुत्रोंसे छुटकारा प्राप्त करे। फिर ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य इन पाँच आचारोंको प्राप्त होकर ऐसे आचार्यके पास पहुँचे जो कि अनेक गुणोंसे सहित हों, कुल, रूप तथा अवस्थासे विशिष्ट हों और अन्य मुनि जिसे अत्यंत चाहते हों। उनके पास पहुँचकर उन्हें प्रणाम करता हुआ यह कहे कि हे प्रभो! मुझे अंगीकार कीजिए। अनंतर उनके द्वारा अनुगृहीत होकर निम्नांकित भावना प्रकट करे।।२-३।।

णाहं होमि परेसिं, ण मे परे णत्थि मज्झमिह किंचि।
इदि णिच्छिदो जिदिंदो, जादो जधजादरूवधरो।।४।।

'मैं दूसरोंका नहीं हूँ, दूसरे मेरे नहीं हैं और न इस लोकमें मेरा कुछ है।' इस प्रकार निश्चित होकर जितेंद्रिय होता हुआ सद्योजात बालकके समान दिगंबर रूपको धारण करे।।४।।

आगे सिद्धिके कारणभूत बाह्य लिंग और अंतरंग लिंग इन दो लिंगोंका वर्णन करते हैं --

१. सासादनादिक्षीणकषायान्ता एकदेशजिना उच्यन्ते शेषाश्चानागारकेवलिनो जिनवरा भण्यन्ते। तीर्थकरपरमदेवाश्च जिनवरवृषभा इति तान् जिनवरवृषभान् ज. वृ.।

[१]जधजादरूवजादं, [२]उप्पाडिदकेसमंसुगं सुद्धं।
रहितं हिंसादीदो, अपडिकम्मं हवदि लिंगं।।५।।
[३]मुच्छारंभविजुत्तं, जुत्तं [४]उवजोगजोगसुद्धीहिं।
लिंगं ण परावेक्खं, अपुणब्भवकारणं [५]जोण्हं।।६।। जुगलं।।

जो सद्योजात बालकके समान निर्विकार निर्ग्रंथ रूपके धारण करनेसे उत्पन्न होता है, जिसमें शिर तथा दाढ़ी-मूँछके बाल उखाड़ दिये जाते हैं, जो शुद्ध है -- निर्विकार है, हिंसादि पापोंसे रहित है और शरीरकी सँभाल तथा सजावटसे रहित है वह बाह्य लिंग है। तथा जो मूर्च्छा -- परपदार्थमें ममता परिणाम और आरंभसे रहित है, उपयोग और योगकी शुद्धिसे सहित है, परकी अपेक्षासे दूर है एवं मोक्षका कारण है वह श्री जिनेंद्रदेवके द्वारा कहा हुआ अंतरंगलिंग -- भावलिंग है।

जैनागममें बहिरंग लिंग और अंतरंग लिंग -- दोनों ही लिंग परस्पर सापेक्ष रहकर ही कार्यके साधक बतलाये हैं। अंतरंग लिंगके बिना बहिरंग केवल नटके समान वेष मात्र है, उससे आत्माका कुछ भी कल्याण साध्य नहीं है और बहिरंग लिंगके बिना अंतरंग लिंगका होना संभव नहीं है। क्योंकि जब तक बाह्य परिग्रहका त्याग होकर यथार्थ निर्ग्रंथ अवस्था प्रकट नहीं हो जाती तब तक मूर्च्छा या आरंभरूप आभ्यंतर परिग्रहका त्याग नहीं हो सकता और जबतक हिंसादि पापोंका अभाव तथा शरीरासक्तिका भाव दूर नहीं हो जाता तबतक उपयोग और योगकी शुद्धि नहीं हो सकती। इस प्रकार उक्त दोनों लिंग ही अपुनर्भव -- फिरसे जन्म धारण नहीं करना अर्थात् मोक्षके कारण हैं।।५-६।।

आगे श्रमण कौन होता है? यह कहते हैं --

आदाय तंपि गुरुणा, परमेण तं णमंसित्ता।
सोच्चा सवयं किरियं, उवट्ठिदो होदि सो समणो।।७।।

जो परमभट्टारक अर्हंत परमेश्वर अथवा दीक्षागुरुसे पूर्वोक्त दोनों लिंगोंको ग्रहण कर उन्हें नमस्कार करता है और व्रतसहित आचारविधिको सुनकर शुद्ध आत्मस्वरूपमें उपस्थित रहता है -- अपने उपयोगको अन्य पदार्थोंसे हटाकर शुद्ध आत्मस्वरूपके चिंतनमें लीन रहता है वह श्रमण होता है।।७।।

आगे यद्यपि श्रमण अखंडित सामायिक चारित्र को प्राप्त होता है तो भी कदाचित् छेदोपस्थापक हो जाता है, यह कहते हैं --

वदसमिदिंदियरोधो, लोचावस्सक [६]मचेलमण्हाणं।
खिदिसयणमदंतयणं[७], ठिदिभोयणमेयभत्तं च।।८।।

१. जथजादरूपजादं ज. वृ.। २. उप्पादिय ज. वृ. ।३. मुच्छारंभविमुक्कं ज. वृ. ।४. उवओग ज. वृ. ।५. जेण्हं ज. वृ.।
६. लोचावस्सय ज. वृ.। ७. --मदंतवणं ज. वृ. ।

एदे खलु मूलगुणा, समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता।
तेसु पमत्तो समणो, छेदोवट्ठावगो होदि।।९।।

पाँच[1] महाव्रत, [2]पाँच समितियाँ, [3]पाँच इंद्रियोंका निरोध करना, केशलोच करना, [4]छह आवश्यक, वस्त्रका त्याग, स्नानका त्याग, पृथिवीपर सोना, दंतधावन नहीं करना, खड़े-खड़े भोजन करना और एक बार भोजन करना ये मुनियोंके मूलगुण निश्चयपूर्वक श्री जिनेंद्रदेवके द्वारा कहे गये हैं। जो मुनि इनमें प्रमाद करता है वह छेदोपस्थापक होता है।

ये अट्ठाईस मूलगुण निर्विकल्प सामायिक चारित्रके भेद हैं, इन्हींसे मुनिपदकी सिद्धि होती है। इनमें प्रमाद होनेसे निर्विकल्पक सामायिक चारित्रका भंग हो जाता है इसलिए इनमें सदा सावधान रहना चाहिए। मुनिके अनुभवमें जब यह बात आवे कि मेरे संयमके अमुक भेदमें भंग हुआ है तब वह उसी भेदमें आत्माको फिरसे स्थापित करे। ऐसी दशामें वह मुनि छेदोपस्थापक कहलाता है।।८-९।।

आगे आचार्योंके प्रव्रज्यादायक और छेदोपस्थापकके भेदसे दो भेद हैं ऐसा कहते हैं --

लिंगग्गहणं तेसिं, गुरुत्ति पव्वज्जदायगो होदि।
छेदेसूवट्ठग्गा, सेसा णिज्जावया समणा।।१०।।

उन मुनियोको पूर्वोक्त लिंग ग्रहण करानेवाले गुरु प्रव्रज्यादायक -- दीक्षा देनेवाले गुरु होते हैं और एकदेश तथा सर्वदेशके भेदसे दो प्रकारका छेद होनेपर जो पुनः उसी संयममें फिरसे स्थापित करते हैं वे अन्य मुनि निर्यापक गुरु कहलाते हैं।

विशाल मुनिसंघमें दीक्षागुरु और निर्यापक गुरु इस प्रकार पृथक् पृथक् दो गुरु होते हैं। दीक्षागुरु नवीन शिष्योंको दीक्षा देते हैं और निर्यापक गुरु संयमका भंग होनेपर संघस्थ मुनियोंको प्रायश्चित्तादिके द्वारा पुनः संयममें स्थापित करते हैं। अल्पमुनिसंघमें एक ही आचार्य दोनों काम कर सकते हैं।।१०।।

आगे संयमका भंग होनेपर उसके पुनः जोड़नेकी विधि कहते हैं --

पयदम्हि समारद्धे, छेदो समणस्स कायचेट्ठम्मि।
जायदि जदि तस्स पुणो, आलोयणपुव्विया किरिया।।११।।
[5]छेदुपजुत्तो समणो, समणं ववहारिणं जिणमदम्मि।
आसेज्जालोचित्ता, उवद्दिदं तेण कायव्वं।।१२।।

यत्नपूर्वक प्रारंभ हुई शरीरकी चेष्टामें यदि साधुके भंग होता है तो उसका आलोचनापूर्वक फिरसे

---

१. अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। २. ईर्या, भाषा, ऐषणा, आदाननिक्षेपण और प्रतिष्ठापन। ३. स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और कर्ण इनका निरोध करना। ४. समता, वंदन, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, कायोत्सर्ग। ५. छेदपउत्तो ज. वृ. ।

वही क्रिया करना प्रायश्चित्त है और जो साधु अंतरंग संयमभंगरूप उपयोगसे सहित है वह जिनमतमें व्यवहार क्रियामें चतुर किसी अन्य मुनिके पास जाकर आलोचना करे तथा उनके द्वारा बतलाये हुए प्रायश्चित्तका आचरण करे।

बहिरंग और अंतरंगके भेदसे संयमका भंग दो प्रकारका है -- जहाँ प्रमादरहित ठीक ठीक प्रवृत्ति करते हुए भी कदाचित् शारीरिक क्रियाओंमें भंग हो जाता है उसे बहिरंग संयमका भंग कहते हैं। इसका प्रायश्चित्त यही है कि उस भंगकी आलोचना करे तथा पुनः वैसी प्रवृत्ति न कर पूर्ववत् ठीक ठीक आचरण करे। जहाँ उपयोगरूप संयमका भंग होता है उसे अंतरंग संयमका भंग कहते हैं। जिस मुनिके यह अंतरंग संयमका भंग हुआ हो वह जिनप्रणीत आचारमार्गमें निपुण किसी निर्यापकाचार्यके पास जाकर छलरहित अपने दोषोंकी आलोचना करे और वे निर्यापकाचार्य जो प्रायश्चित्त दें उसका शुद्ध हृदयसे आचरण करे। ऐसा करनेसे ही छूटा हुआ संयम पुनः प्राप्त हो जाता है।।११-१२।।

आगे मुनिपदके भंगका कारण होनेसे परपदार्थोंके साथ संबंध छोड़ना चाहिए ऐसा कहते हैं --

अधिवासे य विवासे, छेदविहूणो भवीय सामण्णे।
समणो विहरदु णिच्चं, परिहरमाणो णिबंधाणि।।१३।।

मुनि, मुनिपदमें अंतरंग और बहिरंग भंगसे रहित होकर निरंतर परपदार्थोंमें राग द्वेषपूर्ण संबंधोंको छोड़ता हुआ गुरुओंके समीपमें अथवा किसी अन्य स्थानमें विहार करे।

नवदीक्षित साधु अपने गुरुजनोंसे अधिष्ठित गुरुकुलमें निवास करे अथवा अन्य किसी स्थानपर। परंतु वह सदा मुनिपदके भंगके कारणोंको बचाता रहे और बाह्य पदार्थोंमें राग द्वेषरूप संबंधको छोड़ता रहे अन्यथा उसका चारित्र मलिन होनेकी संभावना रहती है।।१३।।

आगे आत्मद्रव्यमें संबंध होनेसे ही मुनिपदकी पूर्णता होती है ऐसा उपदेश करते हैं --

चरदि णिबद्धो णिच्चं, समणो णाणम्मि दंसणमुहम्मि।
पयदो मूलगुणेसु य, जो सो पडिपुण्णसामण्णो।।१४।।

जो मुनि ज्ञानमें तथा दर्शन आदि गुणोंमें लीन रहकर निरंतर प्रवृत्ति करता है और पूर्वोक्त मूलगुणोंमें निरंतर प्रयत्नशील रहता है उसीका मुनिपना पूर्णताको प्राप्त होता है।

सच्चा श्रमण -- साधु -- मुनि वही है जो बाह्य पदार्थोंसे हटकर शुद्ध ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगरूप स्वस्वभावमें निरंतर लीन रहता है। तथा अट्ठाईस मूलगुणोंका निरतिचार पालन करता है।।१४।।

आगे मुनिपदके भंगका कारण होनेसे मुनिको प्रासुक आहार आदिमें भी ममत्व नहीं करना चाहिए यह कहते हैं --

भत्ते वा खवणे वा, [१]आवसधे वा पुणो विहारे वा।
उवधिम्मि[२] वा णिबद्धं, णेच्छदि समणम्मि विकधम्मि[३]।।१५।।

उत्तममुनि भोजनमें अथवा उपवासमें अथवा गुहा आदि निवासस्थानमें अथवा विहारकार्यमें अथवा शरीररूप परिग्रहमें अथवा साथ रहनेवाले अन्य मुनियोंमें अथवा विकथामें ममत्वपूर्वक संबंधकी इच्छा नहीं करता है।।१५।।

आगे प्रमादपूर्ण प्रवृत्ति ही मुनिपदका भंग है ऐसा कहते हैं --

अपयत्ता वा चरिया, सयणासणठाणचंकमादीसु।
समणस्स [४]सव्वकालं, हिंसा सा [५]संततत्ति मदा।।१६।।

सोना, बैठना, खड़ा होना तथा विहार करना आदि क्रियाओंमें साधुकी जो प्रयत्न रहित -- स्वच्छंद प्रवृत्ति है वह निरंतर अखंड प्रवाहसे चलनेवाली हिंसा है ऐसा माना गया है।

प्रमादपूर्ण प्रवृत्तिसे हिंसा होती है और हिंसासे मुनिपदका भंग होता है अतः मुनिको चाहिए कि वह सदा प्रमादरहित प्रवृत्ति करे।।१६।।

आगे छेद अर्थात् मुनिपदका भंग अंतरंग और बहिरंगके भेदसे दो प्रकारका होता है ऐसा कहते हैं --

मरदु व जिवदु व जीवो, अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो, हिंसामेत्तेण समिदीसु।।१७।।

दूसरा जीव मरे अथवा न मरे, परंतु अयत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करनेवालेके हिंसा निश्चित है अर्थात् वह नियमसे हिंसा करनेवाला है तथा जो पाँचों समितियोंमें प्रयत्नशील रहता है अर्थात् यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करता है उसके बाह्य हिंसामात्रसे बंध नहीं होता है।

आत्मामें प्रमादकी उत्पत्ति होना भावहिंसा है और शरीरके द्वारा किसी प्राणीका विघात होना द्रव्यहिंसा है। भावहिंसासे मुनिपदका अंतरंग भंग होता है और द्रव्यहिंसासे बहिरंग भंग होता है। बाह्यमें जीव चाहे न मरे परंतु जो मुनि अयत्नाचारपूर्वक गमनागमनादि करता है उसके प्रमादके कारण भावहिंसा होनेसे मुनिपदका अंतरंग भंग निश्चितरूपसे होता है और जो मुनि प्रमादरहित प्रवृत्ति करता है उसके बाह्य जीवोंका विघात होनेपर भी प्रमादके अभावमें भावहिंसा न होनेसे हिंसाजन्य पापबंध नहीं होता है। भावहिंसाके साथ होनेवाली द्रव्यहिंसा ही पापबंधका कारण है। केवल द्रव्यहिंसासे पापबंध नहीं होता, परंतु भावहिंसा हिंसा की अपेक्षा नहीं रखती। वह हो अथवा न भी हो, परंतु भावहिंसाके होनेपर नियमसे पापबंध होता है।

१.आवसहे ज. वृ. । २. उवधिम्हि ज. वृ. । ३. विकहम्मि ज. वृ. ४. सव्वकाले ज. वृ.। ५. संतत्तियत्ति ज. वृ. ।

इसलिए निरंतर प्रमादरहित ही प्रवृत्ति करनी चाहिए।।१७।।[1]

आगे भावहिंसारूप अंतरंग भंग (छेद) का सर्व प्रकारसे त्याग करना चाहिए ऐसा कहते हैं --

अयदाचारो समणो, छस्सुवि कायेसु [2]बंधगोत्ति मदो।
चरदि जदं जदि णिच्चं, कमलं व जले णिरुवलेवो।।१८।।

अयत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करनेवाला साधु कायोंके विषयमें बंध करनेवाला है ऐसा माना गया है और वही साधु यदि निरंतर यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करता है तो जलमें कमलकी तरह कर्मबंधरूप लेपसे रहित होता है।।१८।।

आगे अंतरंग छेदका कारण होनेसे परिग्रहका सर्वथा त्याग करना चाहिए ऐसा कहते हैं --

हवदि व ण हवदि बंधो, [3]मदे हि जीवेऽध [4]कायचेट्ठम्मि।
बंधो धुवमुवधीदो, इदि समणा छंडिया सव्वं।।१९।।

गमनागमनरूप शरीरकी चेष्टामें जीवके मरनेपर कर्मका बंध होता भी है और नहीं भी होता है, परंतु परिग्रहसे कर्मबंध निश्चित होता है इसलिए मुनि सब प्रकारके परिग्रहका त्याग करते हैं।

यदि अंतरंगमें प्रमादपरिणति है तो बाह्यमें जीववध कर्मबंधका कारण होता है अन्यथा नहीं। इसलिए कहा है कि शरीरकी चेष्टामें जो त्रस स्थावर जीवोंका विघात होता है उससे कर्मबंध होता भी है और नहीं भी होता है। परंतु परिग्रह अंतरंगके मूर्च्छा परिणामके बिना नहीं होता अतः उसके रहते हुए कर्मबंध जारी ही रहता है। यह विचार कर मुनि सब प्रकारके परिग्रहका त्याग कर चुकते हैं। यहाँतक कि वस्त्र तथा भोजनपात्र वगैरह कुछ भी अपने पास नहीं रखते हैं।।१९।।

अब यहाँ कोई यह आशंका करे कि बाह्य परिग्रहका सर्वथा त्याग कर देनेपर भी यदि अंतरंगमें उसकी लालसा बनी रहती है तो उस त्यागसे क्या लाभ है? इस प्रश्नका समाधान करते हुए कहते हैं कि मुनिका जो बाह्य परिग्रह त्याग है वह अंतरंग लालसासे रहित ही होता है --

ण हि णिरवेक्खो चाओ, ण हवदि भिक्खुस्स [5]आसयविसुद्धी।
अविसुद्धस्स य चित्ते, कहं णु[6] कम्मक्खओ विहिओ।।२०।।

---

१. १७ वीं गाथाके बाद ज. वृ. में निम्नांकित दो गाथाओंकी व्याख्या अधिक है --

उच्चालियम्हि पाए इरियासमिदस्स णिग्गमत्थाए।
आबाधेज्ज कुलिंगं मरिज्ज तं जोगमासेज्ज।।
ण हि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमो य देसिदो समये।
मुच्छा परिग्गहोच्चिय अज्झप्पयमाणदो दिट्ठो।। जुम्मं

२. वधकरोत्ति ज. वृ. । ३. मदम्हि ज. वृ. । ४. कायचेट्ठम्हि ज. वृ. ।५. आसयविसोहो ज. वृ. ६. कहं तु ज. वृ

मुनिका त्याग यदि निरपेक्ष नहीं है -- अंतरंगकी लालसासे रहित नहीं है तो उसके आशय -- उपयोगकी विशुद्धि नहीं हो सकती और जिसके आशयमें विशुद्धता नहीं है उसके कर्मोंका क्षय कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता।

जिस प्रकार जब तक धानका छिलका दूर नहीं हो जाता तब तक उसके भीतर रहनेवाले चावलकी लालिमा दूर नहीं की जा सकती इसी प्रकार जब तक बाह्य परिग्रहका त्याग नहीं हो जाता तब तक अंतरंगमें निर्मलता नहीं आ सकती और जब तक अंतरंगमें निर्मलता नहीं आ जाती तब तक कर्मोंका क्षय किस प्रकार हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता। अभिप्राय यह है कि कर्मक्षयके लिए अंतरंगकी विशुद्धि आवश्यक है और अंतरंगकी विशुद्धिके लिए बाह्य परिग्रहका त्याग आवश्यक है। जहाँ बाह्य परिग्रहके त्यागका उपदेश है वहाँ अंतरंगकी लालसाका त्याग भी स्वतःसिद्ध है, क्योंकि उसके बिना केवल बाह्य त्यागसे आत्माका कल्याण नहीं हो सकता यह निश्चित है[१]।।२०।।

आगे अंतरंग संयमका घात परिग्रहसे ही होता है ऐसा कहते हैं --

किध[२] [३]तम्मि णत्थि मुच्छा, आरंभो वा असंजमो तस्स।
तध[४] परदव्वम्मि रदो, [५]कधमप्पाणं [६]पसाधयदि।।२१।।

उस परिग्रहकी आकांक्षा रखनेवाले पुरुषमें मूर्च्छा -- ममतापरिणाम, आरंभ तथा संयमका विघात किस प्रकार नहीं हो? अर्थात् सब प्रकारसे हो। तथा जो साधु परद्रव्यमें रत रहता है वह आत्माका प्रसाधन कैसे कर सकता है -- आत्माको उज्ज्वल कैसे बना सकता है?

यदि कोई ऐसा कहे कि हम बाह्य परिग्रह रखते हुए भी उसमें मूर्च्छा परिणाम नहीं करते हैं इसलिए हमारी उससे कोई हानि नहीं होती है। इसके उत्तरमें श्री कुंदकुंद स्वामी कहते हैं कि जिसके पास परिग्रह है उसकी उस परिग्रहमें मूर्च्छा न हो, तज्जन्य आरंभ न हो और उन दोनोंके निमित्तसे उसके संयममें कोई बाधा न हो यह संभव नहीं है। जहाँ परिग्रह होगा वहाँ मूर्च्छा, आरंभ और असंयम नियमसे रहते हैं। इसके सिवाय जो शुद्ध आत्मद्रव्यको छोड़कर परद्रव्यमें रत रहता है वह अपनी आत्माका प्रसाधन नहीं कर पाता,

---

१. २० वीं गाथाके बाद ज. वृ. में निम्नलिखित गाथाएं अधिक पायी जाती हैं --

गेण्हदि व चेलखंडं भायणमत्थित्ति भणिदमिदि सुत्ते।
जदि सो चत्तालंबो हवदि कहं वा अणारंभो।।१।।
वत्थक्खंडं दुद्दियभायणमण्णं च गेण्हदि णियदं।
विज्जदि पाणारंभो विक्खेवो तस्स चित्तम्मि।।२।।
गेण्हइ विधुणइ धोवइ सोसेइ जदं तु आदवे खित्ता।
पत्थं च चेलखंडं विभेदि परदो य पालयदि।।३।। विसेसयं

२. किह ज. वृ.। ३. तम्हि ज. वृ.। ४. तह। ५. कह ज. वृ.। ६. पसाहयदि ज. वृ.।

क्योंकि उसके लिए उपयोगका तन्मयैकभाव आवश्यक है और वह तब तक संभव नहीं होता जबतक परिग्रहमें आसक्ति बनी रहती है। इसलिए अंतरंग संयमका घातक समझकर साधुको परिग्रह दूरसे ही छोड़ देना चाहिए।।२१।।

आगे परमोपेक्षारूप संयम धारण करनेकी शक्ति न होनेपर आहार तथा संयम, शौच और ज्ञानके उपकरण मुनि ग्रहण कर सकते हैं ऐसा कहते हैं --

छेदो जेण ण विज्जदि, गहणविसग्गेसु सेवमाणस्स ।
समणो तेणिह वट्टदु, कालं खेत्तं वियाणत्ता।।२२।।

ग्रहण करते तथा छोड़ते समय धारण करनेवाले मुनिके जिस परिग्रहसे संयमका घात न हो, मुनि, काल तथा क्षेत्रका विचार कर उस परिग्रहसे इस लोकमें प्रवृत्ति कर सकता है।

यद्यपि जहाँ समस्त परिग्रहका त्याग होता है ऐसा परमोपेक्षरूप संयम ही आत्माका धर्म है। यही उत्सर्गमार्ग है, परंतु अब क्षेत्र और कालके दोषसे मनुष्य हीन शक्तिके धारक होने लगे हैं अतः परमोपेक्षारूप संयमके धारक मुनि अत्यल्प रह गये हैं। हीन शक्तिके धारक मुनियोंको शरीरकी रक्षा के लिए आहार ग्रहण करना पड़ता है, विहारादिके समय शारीरिक शुद्धिके लिए कमंडलु रखना पड़ता है, उठते-बैठते समय जीवोंका विघात बचानेके लिए मयूरपिच्छी रखनी पड़ती है तथा उपयोगकी स्थिरता और ज्ञानकी वृद्धिके लिए शास्त्र रखना होता है। यद्यपि ये परिग्रह हैं और परमोपेक्षारूप संयमके धारक मुनिके इनका अभाव होता है, परंतु अल्प शक्तिके धारक मुनियोंका इनके बिना निर्वाह नहीं हो सकता इसलिए कुंदकुंद स्वामी अपवाद मार्गके रूपमें इनके ग्रहण करनेको आज्ञा प्रदान करते हैं। इनके ग्रहण करते समय मुनिको इस बातका विचार अवश्य करना चाहिए कि हमारे द्वारा स्वीकृत उपकरणोंमें कोई उपकरण संयमका विघात करनेवाला तो नहीं है। यदि हो तो उसका परित्याग करना चाहिए। यहाँ कितने ही लोग, कालका अर्थ शीतादि ऋतु और क्षेत्रका अर्थ शीतप्रधान आदि देश लेकर ऐसा व्याख्यान करने लगे हैं कि मुनि शीतप्रधान देशोंमें शीत ऋतुके समय कंबलादि ग्रहण कर सकते हैं ऐसी कुंदकुंद स्वामीकी आज्ञा है। सो यह उनकी मिथ्या कल्पना है। कुंदकुंद स्वामी तो अणुमात्र परिग्रहके धारक मुनिको निगोदका पात्र बतलाते हैं। वे कंबल धारण करनेकी आज्ञा किस प्रकार दे सकते हैं? इसी गाथामें वे स्पष्ट लिख रहे हैं कि जिनके ग्रहण करने तथा छोड़नेमें वीतराग भावरूप संयम पदका भंग न हो ऐसे परिग्रहसे मुनि अपनी प्रवृत्ति -- निर्वाह मात्र कर सकता है, उसे अपना समझकर ग्रहण नहीं कर सकता। कंबलादिके ग्रहण और त्याग दोनोंमें ही राग द्वेषकी उत्पत्ति होनेसे वीतराग भाव रूप संयमका घात होता है यह प्रत्येक मनुष्य अनुभवसे समझ सकता है अतः वह कदापि ग्राह्य नहीं है।।२२।।

आगे अपवादमार्गी मुनिके द्वारा ग्रहण करनेयोग्य परिग्रहका स्पष्ट वर्णन करते हैं --

अप्पडिकुट्ठं[१] उवधिं, अपत्थणिज्जं असंजदजणेहिं[२]।
मुच्छादिजणणरहिदं[३], गेण्हदु समणो जदि[४] वियप्पं।।२३।।

अपवादमार्गी उस परिग्रहको ग्रहण करे जो कि कर्मबंधका साधक न होनेसे अप्रतिक्रुष्ट हो -- अनिंदित हो, असंयमी मनुष्य जिसे पानेकी इच्छा न करते हों, ममता आदिकी उत्पत्तिसे रहित हो और थोड़ा हो।

अपवादमार्गी मुनिको कमंडलु, पीछी और शास्त्र ग्रहण करनेकी आज्ञा है सो मुनि ऐसे कमंडलु आदिको ग्रहण करे जिसके निर्माणमें हिंसा आदि पाप न होते हों, जिसे देखकर अन्य मनुष्योंका मन न लुभा जावे, जो रागादि भावोंको बढ़ानेवाले न हों और परिमाणमें एकाधिक न हों। जैसे मुनि यदि कमंडलु ग्रहण करें तो मिट्टी या लकड़ीका अथवा तूँबा आदिका ग्रहण करें। ताँबा, पीतल या चर्म आदिका ग्रहण न करें तथा एकसे अधिक न रखें। क्योंकि चर्मका बना कमंडलु हिंसाजन्य और हिंसाका जनक होनेसे प्रतिक्रुष्ट है -- निंदित है। ताँबा, पीतल आदिका कमंडलु अन्य असंयमी मनुष्योंके द्वारा चुराया जा सकता है। और एकसे अधिक होनेपर उसके संरक्षणादिजन्य आकुलता उत्पन्न होने लगती है। इसी प्रकार पीछी भी ऐसी हो जो सजावटसे रहित हो। मयूरपिच्छसे बनी हुई। शास्त्र भी एक दो से अधिक साथमें न रखें। कितनेही साधुओंके साथ अनेकों शास्त्रोंसे भरी पेटियाँ चलती हैं। यह जिज्ञासाके विरुद्ध होनेसे ठीक नहीं है।।२३।।

आगे उत्सर्ग मार्ग ही वस्तुधर्म है अपवाद मार्ग नहीं ऐसा उपदेश देते हैं --

किं किंचण त्ति तक्कं, अपुणब्भवकामिणोध देहेवि[५]।
संगत्ति[६]जिणवरिंदा, [७]अप्पडिकम्मत्तिमुद्दिट्ठा।।२४।।

जब मोक्षके अभिलाषी मुनिके, शरीरमें भी यह परिग्रह है, ऐसा जानकर श्री जिनेंद्रदेवने अप्रतिकर्मत्व अर्थात् ममत्वभावसहित शरीरकी क्रियाके त्यागका उपदेश दिया है तब उस मुनिके क्या अन्य कुछ भी परिग्रह है ऐसा विचार होता है।

जब श्री जिनेंद्रदेवने शरीरको भी परिग्रह बतलाकर उसमें ममतामयी क्रियाओंके त्यागका उपदेश दिया है तब अन्य परिग्रह मुनि कैसे रख सकते हैं?[८] ।।२४।।

आगे यथार्थमें उपकरण कौन है? यह बतलाते हैं --

उवयरणं जिणमग्गे, लिंगं जहजादरूवमिदि भणिदं।
गुरुवयणं पि य विणओ, सुत्तज्झयणं च पण्णत्तं।।२५।।

---

१. अप्पदिकुट्ठं ज. वृ. । २. असंजदजणस्स ३. रहियं ज. वृ. । ४. जदिवि अप्पं । ५. देहोवि ज. वृ. । ६. संगोत्ति ज. वृ. । ७. अप्पडिकम्मत्त । ८. २४ वीं गाथाके आगे ज. वृ. में स्त्रीमुक्तिका निराकरण करनेवाली ११ गाथाओंकी व्याख्या अधिक की गयी है। वे गाथाएँ इस प्रकार हैं -- **(गाथाएँ अगले पृष्ठ पर देखिए ------**

जिनमार्गमें यथार्थजातरूप -- निर्ग्रंथ मुद्रा, गुरुओंके वचन, उनकी विनय और शास्त्रोंका अध्ययन ये उपकरण कहे गये हैं।

जिनके द्वारा परम वीतरागरूप शुद्ध आत्मदशाकी प्राप्तिमें सहयोग प्राप्त हो उन्हें उपकरण कहते हैं। ऐसे उपकरण जिनशासनमें निम्नलिखित ४ माने गये हैं। १. सद्योजात बालकके समान निर्विकार दिगंबर मुद्रा, २. पूज्य गुरुओंके वचनानुसार प्रवृत्ति करना, ३. गुण तथा गुणाधिक मुनियोंकी विनय करना और ४. शास्त्र अध्ययन करना। यथार्थमें आत्माकी शुद्ध दशाकी प्राप्तिमें इन्हीं कारणोंसे साक्षात् सहयोग प्राप्त होता है इसलिए ये ही वास्तविक उपकरण हैं। परंतु ये चारों ही सहजानंदरूप शुद्धात्मद्रव्यसे बहिर्भूत शरीररूप पुद्गल द्रव्यके आश्रित हैं अतः परिग्रह हैं और त्याज्य हैं।।२५।।

पहले कह आये हैं कि मुनिके शरीरमात्र परिग्रह होता है। अब आगे उसके पालनकी विधिका

---पिछले पृष्ठसे आगे

पेच्छदि ण हि इह लोगं परं च समणिंददेसिदो धम्मो।
धम्मम्हि तम्हि कहा वियप्पियं लिंगमित्थीणं।।१।।
णिच्छयदो इत्थीणं सिद्धी ण हि तेण जम्मणा दिट्ठा।
तम्हा तप्पडिरूवं वियप्पियं लिंगमित्थीणं।।२।।
पइडीपमादमइया एतासिं वित्ति भासिया पमदा।
तम्हा ताओ पमदा पमादबहुलोत्ति णिद्दिट्ठा।।३।।
संति धुवं पमदाणं मोहपदोसा भयं दुगुंछा य।
चित्ते चित्ता माया तम्हा तासिं ण णिव्वाणं।।४।।
ण विणा वट्टदि णारी एक्कं वा तेसु जीवलोयम्हि।
ण हि संउणं च गत्तं तम्हा तासिं च संवरणं ।।५।।
चित्तस्सावो तासिं सित्थिल्लं अत्तवं च पक्खलणं।
विज्जदि सहसा तासु अ उप्पादो सुहममणुआणं।।६।।
लिंगम्हि य इत्थीणं थणंतरे णाहिकखपदेसेसु ।
भणिदो सुहुमुप्पादो तासिं कह संजमो होदि।।७।।
जदि दंसणेण सुद्धा सुत्तज्झयणेण चावि संजुत्ता।
घोरं चरदि य चरियं इत्थिस्स ण णिज्जरा भणिदा।।८।।
तम्हा तं पडिरूवं लिंगं तासिं जिणेहि णिद्दिट्ठं।
फलरूववओजुत्ता समणीओ तस्समाचारा।।९।।
वण्णेसु तीसु एक्को कल्लाणंगो तवोसहो वयसा।
सुमुहो कुंछारहिदो लिंगग्गहणे हवदि जोग्गो।।१०।।
जो रयणत्तयणासो सो भंगो जिणवरेहि णिद्दिट्ठो।
सेसं भंगेण पुणो ण होदि सल्लेहणा अरिहो।।११।।

उपदेश देते हैं --

इह लोगणिरावेक्खो, [१]अप्पडिबद्धो परम्मि लोयम्मि।
जुत्ताहारविहारो, रहिदकसाओ हवे समणो।।२६।।

इस लोकसे निरपेक्ष और परलोककी आकांक्षासे रहित साधु कषायरहित होता हुआ योग्य आहार-विहार करनेवाला हो।

मुनि इस लोकसंबंधी मनुष्य पर्यायसे निरपेक्ष रहता है और परलोकमें प्राप्त होनेवाले देवादि पर्यायसंबंधी आकांक्षा नहीं करता है इसलिए इष्टानिष्ट सामग्रीके संयोगसे होनेवाले कषायभावपर विजय प्राप्त करता हुआ योग्य आहार ग्रहण करता है तथा ईर्यासमितिपूर्वक आवश्यक विहार भी करता है।।२६।।[२]

आगे योग्य आहारविहार करनेवाला साधु आहारविहारसे रहित होता है ऐसा उपदेश देते हैं

जस्स अणेसणमप्पा, तंपि तओ[३]तप्पडिच्छगा समणा।
अण्णं भिक्खमणेसणमध[४] ते समणा अणाहारा।।२७।।

मुनिकी आत्मा परद्रव्यका ग्रहण न करनेसे निराहार स्वभाववाली है, वही उनका अंतरंग तप है। मुनि निरंतर उसी अंतरंग तपकी इच्छा करते है और एषणाके दोषोंरहित जो भिक्षावृत्ति करते हैं उसे सदा अन्य अर्थात् भिन्न समझते हैं, इसलिए वे आहार ग्रहण करते हुए भी निराहार हैं ऐसा समझना चाहिए।

इसी प्रकार विकाररहित स्वभाव होनेके कारण विहार करते हुए भी विहाररहित होते हैं ऐसा जानना चाहिए।।२७।।

आगे मुनिके मुक्ताहारपन कैसे होता है यह कहते हैं --

केवलदेहो समणो, देहे[५] ण ममेत्तिरहिदपरम्मो।
आउत्तो तं तवसा, [६]अणिगूहं अप्पणो सत्तिं।।२८।।

श्रमण केवल शरीररूप परिग्रहसे युक्त होता है, शरीरमें भी 'यह मेरा नहीं है' ऐसा विचार कर सजावटसे रहित होता है, और अपनी शक्तिको न छुपाकर उसे तपसे युक्त करता है अर्थात् तपमें लगाता है।

मुनि शरीरको सदा स्वशुद्धात्म द्रव्यसे बहिर्भूत मानते हैं इसलिए कभी उसका संस्कार नहीं करते

---

१. अप्पडिबद्धो। ज. वृ. । २. २६ वीं गाथाके बाद ज. वृ में निम्नलिखित गाथा अधिक व्याख्यात है --

कोहादिएहि चउविहि विकहाहि तहिंदियाणमत्थेहिं।
समणो हवदि पमत्तो उवजुत्तो णेह णिद्दाहिं।।१।।

३. तवो ज. वृ. । ४. एषणादोषशून्यम् ज. वृ. , अन्नस्याहारस्यैषणं वाञ्छान्नेषणम्। ज. वृ. ।५. देहेवि ममत्त ज. वृ. ।
६. अणिगूहिय ज. वृ. ।

हैं और अपनी शक्तिअनुसार उसे तपमें लगाते हैं। इसलिए उनके युक्ताहारपना अनायास सिद्ध है।।२८।।

आगे युक्ताहारका स्वरूप विस्तारसे समझाते हैं --

एक्कं खलु तं भत्तं, अप्पडिपुण्णोदरं जधा लद्धं[1]।
चरणं भिक्खेण दिवा, ण रसावेक्खं ण मधुमंसं[2]।।२९।।

मुनिका वह भोजन निश्चयसे एक ही बार होता है, अपूर्ण उदर (खाली पेट) होता है, सरस-नीरस जैसा मिल जाता है वैसा ही ग्रहण किया जाता है, भिक्षावृत्तिसे प्राप्त होता है, दिनमें ही लिया जाता है, रसकी अपेक्षासे रहित होता है और मधुमांसरूप नहीं होता है।।२९।।[3]

आगे उत्सर्गमार्ग और अपवादमार्गकी मित्रतासे ही चारित्रकी स्थिरता रह सकती है ऐसा कहते हैं --

बालो वा वुड्ढो वा, समभिहदो वा पुणो गिलाणो वा।
चरियं चरउ सजोग्गं, मूलच्छेदं जधा ण हवदि।।३०।।

जो मुनि बालक है अथवा वृद्ध है अथवा तपस्या के मार्गके श्रमसे खिन्न है, अथवा रोगादिसे पीड़ित है वह अपने योग्य उस प्रकार चर्याका आचरण कर सकता है जिस प्रकारकी मूल संयमका घात न हो।

'संयमका साधन शुद्धात्मतत्त्व ही है, शरीर नहीं है' ऐसा विचार कर शरीररक्षाकी ओर दृष्टि न डाल, बालक, वृद्ध, श्रांत अथवा ग्लान मुनिको भी स्वस्थ तरुण तपस्वीके समान ही कठोर आचरण करना चाहिए यह उत्सर्गमार्ग है और 'शरीर भी संयमका साधन है, क्योंकि मनुष्यशरीरके नष्ट होनेपर देवादिके शरीरसे संयम धारण नहीं किया जा सकता है' ऐसा विचार कर शरीररक्षाकी ओर दृष्टि डाल बालक, वृद्ध, श्रांत अथवा ग्लान मुनि मूलसंयमका घात न करते हुए कोमल आचरण कर सकते हैं, यह अपवाद मार्ग है। आचार्य कुंदकुंद स्वामी यहाँ प्रकट कर रहे हैं कि उक्त दोनों मार्ग परस्परमें सापेक्ष हैं। आचरणमें शिथिलता न आ जावे इसलिए मूल संयमकी विराधना न करते हुए अपवाद मार्ग भी धारण करना चाहिए। क्योंकि

---

१. जहालद्धं ज. वृ. । २. मदुमंसं ज. वृ.।

३. २९ वीं गाथाके आगे ज. वृ. में निम्नांकित ३ गाथाएँ अधिक व्याख्यात हैं --

पक्केसु य आमेसु य विपच्चमाणासु मंसपेसीसु।
संतत्तियमुववादो तज्जादीणं णिगोदाणं।।१।।
जो पक्कमपक्कं वा पेसी मंसस्स खादि पासदि वा।
सो किल णिहणदि पिंडं जीवाणमणेगकोडीणं।।२।।
अप्पडिकुट्टं पिंडं पाणिगयं गेव देयमाणस्स।
दत्ताभोत्तुमजोग्गं भुत्तो वा होदि पुडिकुट्टो।।३।। ज. वृ. (अप्पडिकुट्टाहारं --) इत्यपि पाठः।

किसी एक मार्गके आलंबनसे संयमकी सिद्धि नहीं हो सकती है।।३०।।

आगे उत्सर्गमार्ग और अपवादमार्गके विरोधसे चारित्रमें स्थिरता नहीं आ सकती है यह कहते हैं --

आहारे व विहारे, देसं कालं समं खमं उवधिं।
जाणित्ता ते समणो, वट्टदि जदि अप्पलेवी सो।।३१।।

मुनि, देश काल श्रम और शरीररूप परिग्रहको अच्छी तरह जानकर आहार तथा विहारमें प्रवृत्ति करता है। यद्यपि ऐसा करनेसे अल्प कर्मबंध होता है तो भी वह आहारादिमें उक्त प्रकारसे प्रवृत्ति करता है।

आहारादिके ग्रहणमें अल्प कर्मबंध होता है। इस भयसे जो अत्यंत कठोर आचरणके द्वारा शरीरको नष्ट कर देते हैं वे देवपर्यायमें पहुँचकर असंयमी हो जाते हैं और संयमके अभावमें उनके अधिक कर्मबंध होने लगता है। इस प्रकार अपवादमार्गका विरोध कर केवल उत्सर्ग मार्गके अपनानेसे चारित्र गुणका घात होता है। इसी प्रकार कोई शिथिलाचारी मुनि आहार विहारमें प्रवृत्ति करते हुए शुद्धात्म भावनाकी उपेक्षा कर देते हैं उनके ऐसा करनेसे अधिक कर्मबंध होने लगता है। इस प्रकार उत्सर्गमार्गका विरोध कर केवल अपवाद मार्गके अपनानेसे चारित्र गुणका घात होता है। अतः उसकी स्थिरता रखनेवाले मुनियोंको उक्त दोनों मार्गोंमें निर्विरोध प्रवृत्ति करनी चाहिए ऐसी शास्त्राज्ञा है।।३१।।

आगे एकाग्रतारूप मोक्षमार्गका कथन करते हैं। उस एकाग्रताका मूल साधन आगम है, अतः उसीमें चेष्टा करनी चाहिए यह बतलाते हैं --

एयग्गगदो समणो, एयग्गं णिच्छिदस्स अत्थेसु।
णिच्छित्ती आगमदो, आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा।।३२।।

श्रमण वही है जो एकाग्रताको प्राप्त है, एकाग्रता उसीके होती है जो जीवाजीवादि पदार्थोंके विषयमें निश्चित है अर्थात् संशय विपर्ययादि रहित सम्यग्ज्ञानका धारक है और पदार्थोंका निश्चय आगमसे होता है इसलिए आगमके विषयमें चेष्टा करना -- आगमका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए उद्योग करना श्रेष्ठ है।।३२।।

आगे आगमसे हीन मुनि कर्मोंका क्षय नहीं कर सकता यह कहते हैं --

आगमहीणो समणो, णेवप्पाणं परं वियाणादि।
अविजाणंतो अत्थे, खवेदि कम्माणि किध भिक्खू।।३३।।

आगमसे हीन मुनि न आत्माको जानता है और न आत्मासे भिन्न शरीरादि परपदार्थोंको। स्व-पर पदार्थोंको नहीं जाननेवाला भिक्षु कर्मोंका क्षय कैसे कर सकता है?

आगे मोक्षमार्गमें गमन करनेवाले साधुके आगम ही चक्षु है यह बतलाते हैं --

आगमचक्खू साहू, इंदियचक्खूणि सव्वभूदाणि।
देवा य[1] ओहिचक्खू, सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू।।३४।।

मुनि आगमरूपी नेत्रोंके धारक हैं, संसारके समस्त प्राणी इंद्रियरूपी चक्षुओंसे सहित हैं, देव अवधिज्ञानरूपी नेत्रसे युक्त हैं और अष्टकर्मरहित सिद्ध भगवान् सब ओरसे चक्षुवाले हैं अर्थात् केवलज्ञानके द्वारा समस्त पदार्थोंको युगपत् जाननेवाले हैं।।३४।।

आगे आगमरूपी चक्षुके द्वारा ही सब पदार्थ जाने जाते हैं ऐसा कहते हैं --

सव्वे आगमसिद्धा, अत्था गुणपज्जएहिं चित्तेहिं।
जाणंति आगमेण[2] हि पेछित्ता[3] तेवि ते समणा।।३५।।

विविध गुणपर्यायोंसे सहित जीवाजीवादि समस्त पदार्थ आगमसे सिद्ध हैं। निश्चयसे उन पदार्थोंको वे महामुनि आगमके द्वारा ही जानते हैं।।३५।।

जिसे आगमज्ञान नहीं है वह मुनि ही नहीं है ऐसा कहते हैं --

आगमपुव्वा दिट्ठी, ण [4]भवदि जस्सेह संजमो तस्स।
णत्थित्ति भणइ सुत्तं, असंजदो [5]हवदि [6]किध समणो।।३६।।

इस लोकमें जिसके आगमज्ञानपूर्वक सम्यग्दर्शन नहीं होता है उसके संयम नहीं होता है ऐसा सिद्धांत कहते हैं। फिर जिसके संयम नहीं है वह मुनि कैसे हो सकता है?

जिस पुरुषके प्रथमही आगमको जानकर पदार्थोंका श्रद्धान न हुआ हो उस पुरुषके संयम भाव भी नहीं होता है यह निश्चय है और जिसके संयम नहीं है वह मुनि कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता है। मुनि बननेके लिए आगमज्ञान, सम्यग्दर्शन और तीनों संयमकी प्राप्ति आवश्यक है।।३६।।

आगे जब तक आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयम इन तीनोंकी एकता नहीं होती तबतक मोक्षमार्ग प्रकट नहीं होता ऐसा कहते हैं --

ण हि आगमेण सिज्झदि, सद्दहणं जदि ण[7]अत्थि अत्थेसु।
सद्दहमाणो अत्थे, असंजदो वा ण णिव्वादि।।३७।।

यदि जीवाजीवादि पदार्थोंमें श्रद्धान नहीं है तो मात्र आगमके जान लेनेसे ही जीव सिद्ध नहीं होता है। अथवा पदार्थोंका श्रद्धान करता हुआ भी यदि असंयत हो तो भी निर्वाण प्राप्त नहीं कर सकता है।

सिद्ध होनेके लिए आगमज्ञान, पदार्थश्रद्धान और संयम तीनोंका यौगपद्य -- एक समय प्राप्त होना ही समर्थ कारण है।।३७।।

१. देवादि ज. वृ. । २. आगमेण य ज. वृ. । ३. पेच्छित्ता ज. वृ. ।४. हवदि ज. वृ.। ५. होदि ज. वृ. ।
६. किह ज. वृ. ।७. जदि वि णत्थि ज.वृ. ।

आगे आत्मज्ञानी जीवकी महत्ता प्रकट करते हैं --

जं अण्णाणी कम्मं, खवेइ भवसयसहस्सकोडीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो, खवेइ उस्सासमेत्तेण।।३८।।

अज्ञानी जीव, जिस कर्मको लाखों-करोडों पर्यायों द्वारा क्षपित करता है, तीन गुप्तियोंसे गुप्त आत्मज्ञानी जीव उस कर्मको उच्छ्वासमात्रमें क्षपित कर देता है।

ज्ञानकी और खासकर आत्मज्ञानकी बड़ी महिमा है।।३८।।

आगे आत्मज्ञानशून्य पुरुषके आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयमभावकी एकता भी कार्यकारी नहीं है यह कहते हैं --

परमाणुपमाणं वा, मुच्छा देहादियेसु जस्स पुणो।
विज्जदि जदि सो सिद्धिं, ण लहदि सव्वागमधरोवि।।३९।।

जिसके शरीरादि परपदार्थोंमें परमाणुप्रमाण भी ममताभाव विद्यमान है वह समस्त आगमका धारक होकर भी सिद्धिको प्राप्त नहीं होता है ।

जो शुद्धात्मद्रव्यसे अतिरिक्त शरीरादि परपदार्थोंमें थोड़ी भी मूर्च्छा रखता है उन्हें अपना मानता है वह समस्त आगमका जाननेवाला होकर भी आत्मज्ञानसे शून्य है और जो आत्मज्ञानसे शून्य है वह मुक्तिको प्राप्त नहीं कर सकता है यह निश्चय है।।३९।। [१]

आगे कैसा मुनि संयत कहलाता है यह बतलाते हैं --

पंचसमिदो तिगुत्तो, पंचेंदियसंवुडो[२] [३]जिदकसाओ।
दंसणणाणसमग्गो, समणो सो संजदो भणिदो।।४०।।

जो ईर्यादि पाँच समितियोंसे सहित है, कायगुप्ति वचनगुप्ति मनोगुप्ति इन तीन गुप्तियोंसे युक्त है, स्पर्शनादि पाँच इंद्रियोंको रोकनेवाला है, क्रोधादि कषायोंको जीतनेवाला है और सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञानसे पूर्ण है -- संपन्न है ऐसा साधु ही संयत कहा गया है।।४०।।

आगे श्रमण अर्थात् साधुका लक्षण कहते हैं --

समसत्तुबंधुवग्गो, समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो।
समलोट्ठकंचणो पुण, जीविदमरणे समो समणो।।४१।।

---

१. ३९ वीं गाथाके आगे ज. वृ. में निम्नांकित गाथा अधिक उपलब्ध है --

चागो य अणारंभो, विसयविरागो खओ कसायाणं।
सो संजमोत्ति भणिदो, पव्वज्जाए विसेसेण।।१।।

२. ...संउडो ज. वृ. । ३. जिय .... ज. वृ. ।

जिसे शत्रु और मित्रोंका समूह एक समान हों, सुख और दुःख एक समान हों, प्रशंसा और निंदा एकसमान हों, पत्थरके ढेले और सुवर्ण एक समान हों तथा जो जीवन और मरणमें समभाववाला हो वह श्रमण अर्थात् साधु है।।४१।।

आगे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमें एक साथ प्रवृत्ति करनेवाला मुनि ही एकाग्रताको प्राप्त होता है यह कहते हैं --

दंसणणाणचरित्तेसु, तीसु जुगवं समुट्ठिदो जो दु।
एयग्गगदोत्ति मदो, सामण्णं तस्स [1]परिपुण्णं।।४२।।

जो साधु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंमें एकसाथ उद्यत रहता है वह एकाग्रगत है तथा उसीका मुनिपद पूर्णताको प्राप्त होता है ऐसा माना गया है।।४२।।

आगे एकाग्रताका अभाव मोक्षमार्ग नहीं है यह प्रकट करते हैं --

मुज्झदि वा रज्जदि वा, दुस्सदि वा दव्वमण्णमासेज्ज।
जदि समणो अण्णाणी, बज्झदि कम्मेहिं विविहेहिं।।४३।।

यदि साधु अन्य द्रव्यको पाकर मोह करता है अथवा राग करता है अथवा द्वेष करता है तो वह अज्ञानी है तथा विविध कर्मोंसे बद्ध होता है।

शुद्धात्मद्रव्यको छोड़कर परपदार्थमें आत्मबुद्धि करना तथा इष्ट-अनिष्ट वस्तुओंमें रागद्वेष करना मोहोदयके कार्य हैं। जब तक जीवके मोहका उदय रहता है तब तक वह अज्ञानी रहता है और अनेक प्रकारका कर्मबंध उसके जारी रहता है।।४३।।

आगे एकाग्रता ही मोक्षका मार्ग है यह बतलाते हैं --

[2]अत्थेसु जो ण मुज्झदि, ण हि रज्जदि णेव दोसमुपयादि[3]।
समणो जदि सो णियदं, खवेदि कम्माणि विविधाणि[4]।।४४।।

जो मुनि बाह्य पदार्थोंमें न मोह करता है, न राग करता है और न द्वेष करता है वह निश्चित ही अनेक कर्मोंका क्षय करता है।।४४।।

समणा सुद्धुवजुत्ता, सुहोवजुत्ता य होंति समयम्मि।
तेसुवि सुद्धुवउत्ता, अणासवा सासवा सेसा।।४५।।

मुनि परमागममें शुद्धोपयोगी और शुभोपयोगी के भेदसे दो प्रकारके कहे गये हैं। उनमेंसे शुद्धोपयोगी आस्रवसे रहित और शेष -- शुभोपयोगी आस्रवसे सहित हैं।।४५।।

---

१. पडिपुण्णं ज. वृ. । २. अट्ठेसु ज. वृ. ३. --मुवयादि ज. वृ. । ४. विविहाणि ज. वृ.

आगे शुभोपयोगी श्रमणका लक्षण प्रकट करते हैं --

अरहंतादिसु भत्ती, वच्छलदा पवयणाभिजुत्तसु[१]।
विज्जदि जदि सासण्णे, सा सुहजुत्ता भवे[२] चरिया।।४६।।

यदि मुनि अवस्थामें अरहंत आदिमें भक्ति तथा परमागमसे युक्त महामुनियोंमें वत्सलता -- गोवत्सकी तरह स्नेहानुवृत्ति है तो वह शुभोपयोगसे युक्त चर्या है।।४६।

आगे शुभोपयोगी मुनियोंकी प्रवृत्ति दिखलाते हैं --

वंदणणमंसणेहिं, अब्भुट्ठाणाणुगमणपडिवत्ती।
समणेसु समावणओ, ण णिंदिया रायचरियम्मि।।४७।।

सराग चारित्रकी दशामें अपनेसे पूज्य मुनियोंको वंदना करना, नमस्कार करना, आते हुए देख उठकर खड़ा होना, जाते समय पीछे पीछे चलना इत्यादि प्रवृत्ति तथा उनके श्रम -- थकावटको दूर करना निंदित नहीं है।।४७।।

आगे शुभोपयोगी मुनियोंकी अन्य प्रवृत्तियाँ दिखलाते हैं --

दंसणणाणुवदेसो, सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं।
चरिया हि सरागाणं, जिणिंदपूजोवदेसो य।।४८।।

दर्शन और ज्ञानका उपदेश देना, शिष्योंका संग्रह करना, उनका पोषण करना तथा जिनेंद्रदेवकी पूजाका उपदेश देना यह सब सरागी अर्थात् शुभोपयोगी मुनियोंकी प्रवृत्ति है।।४८।।

आगे जो कुछ भी प्रवृत्तियाँ होती हैं वे शुभोपयोगी मुनियोंके ही होती हैं ऐसा प्रतिपादन करते हैं --

उवकुणदि जोवि णिच्चं, चादुव्वण्णस्स समणसंघस्स।
[३]कायविराधणरहिदं, सोवि सरागप्पधाणो से ।।४९।।

जो ऋषि मुनि यति और अनगार के भेदसे चतुर्विध मुनिसमूहका षट्कायिक जीवोंकी विराधनासे रहित उपकार करता है -- वैयावृत्त्यके द्वारा उनको सुख पहुँचाता है वह भी सरागप्रधान अर्थात् शुभोपयोगी साधु है।।४९।।

आगे षट्कायिक जीवोंकी विराधना न करते हुए ही वैयावृत्त्य करना चाहिए ऐसा कहते हैं --

जदि कुणदि कायखेदं, वेज्जावच्चत्थमुज्जदो समणो।
ण हवदि हवदि अगारी, धम्मो सो सावयाणं से।।५०।।

१. पवयणाहिजुत्तेसु ज. वृ. । २. हवे ज. वृ. । ३. ...विराहण... ज. वृ.

यदि वैयावृत्त्यके लिए उद्यत हुआ साधु षट्कायिक जीवोंकी हिंसा करता है तो वह मुनि नहीं है। वह तो श्रावकोंका धर्म है।।

यद्यपि वैयावृत्त्य अंतरंग तप है और शुभोपयोगी मुनियोंके कर्तव्योंमेंसे एक कर्तव्य है तथापि वे उस प्रकारकी वैयावृत्त्य नहीं करते जिसमें कि षट्कायिक जीवोंकी विराधना हो। विराधनापूर्वक वैयावृत्त्य करना श्रावकोंका धर्म है, न कि मुनियोंका।।५०।।

यद्यपि परोपकारमें शुभ कषायके प्रभावसे अल्प कर्मबंध होता है तो भी शुभोपयोगी पुरुष उसे करे ऐसा उपदेश देते हैं --

जोण्हाणं णिरवेक्खं, सागारणगारचरियजुत्ताणं।
अणुकंपयोवयारं, कुव्वदु लेवो यदिवियप्पं।।५१।।

यद्यपि अल्प कर्मबंध होता है तथापि शुभोपयोगी श्रमण, गृहस्थ अथवा मुनिधर्मकी चर्यासे युक्त श्रावक और मुनियोंका निरपेक्ष हो दयाभावसे उपकार करे।।५१।।

आगे उसी परोपकारके कुछ प्रकार बतलाते हैं --

रोगेण वा [1]छुधाए, तण्हणया[2] वा समेण वा रूढं।
[3]देट्ठा समणं साधू, पडिवज्जदु आदसत्तीए।।५२।।

शुभोपयोगी मुनि, किसी अन्य मुनिको रोगसे, भूखसे, प्याससे अथवा श्रम -- थकावट आदिसे आक्रांत देख उसी अपनी शक्ति अनुसार स्वीकृत करे अर्थात् वैयावृत्त्यद्वारा उसका खेद दूर करे।।५२।।

आगे शुभोपयोगी मुनि वैयावृत्त्यके निमित्त लौकिक जनोंसे वार्तालाप भी करते हैं यह दिखलाते हैं --

वेज्जावच्चणिमित्तं, गिलाणगुरुबालवुड्ढसमणाणं।
लोगिगजणसंभासा, ण णिंदिदा वा सुहोवजुदा।।५३।।

ग्लान (बीमार) गुरु बाल अथवा वृद्ध साधुओंकी वैयावृत्त्यके निमित्त, शुभ भावोंसे सहित लौकिक जनोंके साथ वार्तालाप करना भी निंदित नहीं है।।५३।।

आगे यह शुभोपयोग मुनियोंके गौण और श्रावकोंके मुख्य रूपसे होता है ऐसा कथन करते हैं --

एसा पसत्थभूता, समणाणं वा पुणो घरत्थाणं।
चरिया परेत्ति भणिदा, ता एव परं लहदि सोक्खं।।५४।।

---

१. छुहाए ज. वृ. । २. तण्हाए ज. वृ. । ३. दिट्ठा ज. वृ. ।

यह शुभरागरूप प्रवृत्ति मुनियोंके अल्प रूपमें और गृहस्थोंके उत्कृष्ट रूपमें होती है। गृहस्थ इसी शुभ प्रवृत्तिसे उत्कृष्ट सुख प्राप्त करते हैं।।५४।।

आगे कारणकी विपरीततासे शुभोपयोगके फलमें विपरीतता -- भिन्नता सिद्ध होती है यह कहते हैं --

रागो पसत्थभूदो, वत्थुविसेसेण फलदि विवरीदं।
णाणाभूमिगदाणि हि, बीयाणि व सस्सकालम्मि।।५५।।

जिस प्रकार नाना प्रकारकी भूमिमें पड़े हुए बीजसे धान्योत्पत्तिके समय भिन्न भिन्न प्रकारके फल मिलते हैं उसी प्रकार यह शुभ राग वस्तुकी विशेषतासे -- जघन्य मध्यम उत्कृष्ट पात्रकी विभिन्नतासे विपरीत -- भिन्न भिन्न प्रकारका फल मिलता है।।५५।।

आगे कारणकी विपरीततासे फलकी विपरीतता दिखलाते हैं --

छदुमत्थविविहवत्थुसु, वदणियमज्झयणझाणदाणरदो।
ण लहदि अपुण्णभावं, भावं सादप्पगं लहदि।।५६।।

छद्मस्थ जीवोंद्वारा अपनी बुद्धिसे कल्पित देव गुरु धर्मादिक पदार्थोंका उद्देश्य कर व्रत नियम अध्ययन ध्यान तथा दानमें तत्पर रहनेवाला पुरुष अपुनर्भाव अर्थात् मोक्षको प्राप्त नहीं होता किंतु सुखस्वरूप देव या मनुष्य पर्यायको प्राप्त होता है।।५६।।

आगे इसी बातको और भी स्पष्ट करते हैं --

अविदिदपरमत्थेसु य, [1]विसयकसायाधिगेषु [2]पुरिसेसु।
जुट्ठं कदं व दत्तं, फलदि कुदेवेसु मणुजेसु[3]।।५७।।

परमार्थको नहीं जाननेवाले तथा विषय कषायसे अधिक पुरुषोंकी सेवा करना, टहल चाकरी करना और उन्हें दान देना कुदेवों तथा नीच मनुष्योंमें फलता है।।५७।।

आगे इसीका समर्थन करते हैं --

जदि ते विसयकसाया, पावत्ति परूविदा व सत्थेसु।
कह[4] ते [5]तप्पडिबद्धा, पुरिसा नित्थारगा होंति।।५८।।

यदि वे विषय कषाय पाप हैं इस प्रकार शास्त्रोंमें कहे गये हैं तो उन पापरूप विषय कषायोंमें आसक्त पुरुष संसारसे तारनेवाले कैसे हो सकते हैं? अर्थात् किसी भी प्रकार नहीं हो सकते।।५८।।

आगे पात्रभूत तपोधन का लक्षण कहते हैं --

---

१. विसयकषायादिगेसु ज.वृ. । २. पुरुसेसु ज. वृ.। ३. मणुवेसु ज. वृ. । ४. किह ज. वृ. । ५. तं पडिबद्धा ज. वृ. ।

उवरदपावो पुरिसो, समभावो धम्मिगेसु सव्वेसु।
गुणसमिदिदोवसेवी, हवदि स भागी सुमग्गस्स।। ५९।।

जो पुरुष पापोंसे विरत है, समस्त धर्मात्माओंमें साम्यभाव रखता है और गुणसमूहको सेवा करता है वह सुमार्गका भागी है अर्थात् मोक्षमार्गका पथिक है।।५९।।

आगे इसीको पुनः स्पष्ट करते हैं --

असुभोवयोगरहिदा, सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता वा।
णित्थारयंति लोगं, तेसु पसत्थं लहदि भत्तो।।६०।।

जो अशुभोपयोगसे रहित हैं और शुद्धोपयोग अथवा शुभोपयोगसे युक्त हैं वे उत्तम मुनि भव्य मनुष्यको तारते हैं। उनकी भक्ति करनेवाला मनुष्य प्रशस्त फलको पाता है।।६०।।

आगे गुणाधिक मुनियोंके प्रति कैसी प्रवृत्ति करनी चाहिए यह कहते हैं --

दिट्ठा पगदं वत्थू, अब्भुट्ठाणप्पधाणकिरियाहिं।
वट्टदु तदो गुणादो, विसेसिदव्वोत्ति[१] उवदेसो।।६१।।

इसलिए निर्विकार निर्ग्रंथ रूपके धारक उत्तम पात्रको देखकर जिनमें उठकर खड़े होनेकी प्रधानता है ऐसी क्रियाओंसे प्रवृत्ति करना चाहिए, क्योंकि गुणोंके द्वारा आदर विनयादि विशेष करना योग्य है ऐसा अरहंत भगवान्का उपदेश है [२]।।६१।।

आगे अब्भ्युत्थानादि क्रियाओंको विशेष रूपसे बतलाते हैं --

अब्भुट्ठाणं गहणं, उवासणं पोसणं च सक्कारं।
अंजलिकरणं पणमं, भणिदं इह गुणाधिगाणं हि।।६२।।

इस लोकमें निश्चयपूर्वक अपनेसे अधिक गुणवाले महापुरुषोंके लिए उठकर खड़े होना, आइये, आइये आदि कहकर अंगीकार करना, समीपमें बैठकर सेवा करना, अन्नपानादिकी व्यवस्था कराकर पोषण करना, गुणोंकी प्रशंसा करते हुए सत्कार करना, विनयसे हाथ जोड़ना तथा नमस्कार करना योग्य कहा गया है।।६२।।

आगे श्रमणाभास मुनियोंके विषयमें उक्त समस्त क्रियाओंका निषेध करते हैं --

अब्भुट्ठेया समणा, सुत्तत्थविसारदा उपासेया।
संजमतवणाणड्ढा, पणिवदणीया हि समणेहिं।।६३।।

१. विशेषदव्वत्ति ज. वृ. । २. ज. वृ. में इस गाथाका ऐसा भाव प्रकट किया गया है कि निर्विकार निर्ग्रंथ रूपके धारक तपोधनको अपने संघमें आता देख तीन दिन पर्यंत उनका उठकर खड़े होना आदि सामान्य क्रियाओं द्वारा सत्कार करना चाहिए और तीन दिन बाद विशिष्ट परिचय होनेपर गुणोंके अनुसार उनके सत्कारमें विशेषता करनी चाहिए।

जो आगमके अर्थमें निपुण हैं तथा संयम तप और ज्ञानसे सहित हैं ऐसे मुनि ही निश्चयसे अन्य मुनियोंके द्वारा सेवा करनेके योग्य तथा वंदना करनेके योग्य हैं।

जो उक्त गुणोंसे रहित हैं ऐसे श्रमणाभास मुनियोंके प्रति अभ्युत्थानादि क्रियाओंका प्रतिषेध है।।६३।।

आगे श्रमणाभासका लक्षण कहते हैं --

ण हवदि समणो त्ति मदो, संजमतवसुत्तसंपजुत्तो वि ।
जदि सद्दहदि ण अत्थे, आदपधाणे जिणक्खादे।।६४।।

यदि कोई मुनि संयम, तप तथा आगमसे युक्त होकर भी जिनेंद्र भगवान्के द्वारा कहे हुए जीवादि पदार्थका श्रद्धान नहीं करता है तो वह श्रमण नहीं है -- मुनि नहीं है ऐसा माना गया है।

सम्यग्दर्शनसे हीन मुनि श्रमणाभास कहलाता है।।६४।।

आगे समीचीन मुनिको जो दोष लगाता है वह चारित्रहीन है ऐसा कहते हैं --

अववददि सासणत्थं, समणं दिट्ठा पदोसदो जो हि।
किरियासु णाणुमण्णदि, हवदि हि सो णट्ठचारित्तो।।६५।।

जो मुनि जिनेंद्रदेवकी आज्ञामें स्थित अन्य मुनिको देखकर द्वेषवश उनकी निंदा करता है तथा अभ्युत्थान आदि क्रियाओंके होनेपर प्रसन्न नहीं होता वह निश्चयसे चारित्ररहित है।।६५।।

आगे जो स्वयं गुणहीन होकर अपनेसे अधिक गुणवाले मुनिसे अपनी विनय कराना चाहता है उसकी निंदा करते हैं --

गुणदोधिगस्स विणयं, पडिच्छगो जोवि होमि समणोत्ति।।
होज्जं गुणाधरो जदि, सो होदि अणंतसंसारी।।६६।।

जो मुनि स्वयं गुणोंका धारक न होता हुआ भी 'मैं मुनि हूँ ' इस अभिमानवश अधिक गुणवाले महामुनियोंसे विनयकी इच्छा करता है वह अनंतसंसारी है अर्थात् अनंत कालतक संसारमें भ्रमण करनेवाला है।।६६।।

आगे जो स्वयं गुणाधिक होकर हीनगुणवाले मुनिकी वंदनादि क्रिया करता है उसकी निंदा करते हैं --

अधिगगुणा सामण्णे, वट्टंति गुणाधरेहिं किरियासु।
जदि ते मिच्छुवजुत्ता, हवंति पब्भट्टचारित्ता।।६७।।

जो मुनि मुनिपदमें स्वयं अधिक गुणवाले होकर गुणहीन मुनियोंके साथ वंदनादि क्रियाओंमें प्रवृत्त होते हैं अर्थात् उन्हें नमस्कारादि करते हैं वे मिथ्यात्वसे युक्त तथा चारित्रसे भ्रष्ट होते हैं।।६७।।

आगे मुनिका असत्संगसे बचना चाहिए ऐसा कहते हैं --

णिच्छिदसुत्तत्थपदो, समिदकसायो[१] तवोधिगो[२] चावि।

लोगिगजणसंसग्गं, ण [३]जहदि जदि संजदो ण[४] हवदि।।६८।।

जिसने आगमके अर्थ और पदोंका निश्चय किया है, जिसकी कषायें शांत हो चुकी हैं और जो तपश्चरणसे अधिक है ऐसा होकर भी यदि मुनि लौकिक मनुष्योंके संसर्गको नहीं छोड़ता है तो वह संयमी नहीं है।६८।।[५]

आगे लौकिक मनुष्यका लक्षण कहते हैं --

णिग्गंथं पव्वइदो[६], वट्टदि जदि एहिगेहि कम्मेहिं।

सो लोगिगोदि भणिदो, संजमतवसंपजुत्तोवि[७]।।६९।।

यदि कोई मुनि निर्ग्रंथ दीक्षा धारण करके इस लोकसंबंधी ज्योतिष तंत्र मंत्र आदि क्रियाओं द्वारा प्रवृत्ति करता है तो वह संयम तथा तपसे युक्त होता हुआ भी लौकिक है ऐसा कहा गया है।।६९।।

आगे सत्संग करना चाहिए ऐसा कहते हैं --

तम्हा समं गुणादो, समणो समणं गुणेहिं वा अहियं।

अधिवसदु तम्हि णिच्चं, इच्छदि जदि दुक्खपरिमोक्खं।।७०।।

इसलिए यदि साधु दुःखसे छुटकारा चाहता है तो वह निरंतर ऐसे मुनिके साथ रहे जो कि गुणोंकी अपेक्षा अपने समान हो अथवा अपनेसे अधिक हो।।७०।।

आगे संसार तत्त्वका उद्‌घाटन करते हैं --

जे अजधागहिदत्था, एदे तच्चत्ति णिच्छिदा समये।

अच्चंतफलसमिद्धं, भमंति तेत्तो परं कालं।।७१।।

जो जिनमतमें स्थित होकर भी पदार्थको ठीक-ठीक ग्रहण नहीं करते हैं और अतत्त्वको 'यह तत्त्व है' ऐसा निश्चित कर बैठे हैं वे वर्तमान कालसे लेकर अनंत फलोंसे परिपूर्ण दीर्घकाल तक भ्रमण करते रहते हैं।।७१।।

आगे मोक्षतत्त्वका स्वरूप बतलाते हैं --

---

१. समितकषाओ ज. वृ.। २. तओधिगो ज. वृ. । ३. चयदि ज. वृ. । ४. णविदि ज. वृ. ।

४. ६८ वीं गाथाके आगे ज. वृ. में निम्न गाथा अधिक व्याख्यात है --

तिसिदं व भुक्खिदं वा दुहिंदं दट्ठूण जो हि दुहिदमणो।

पडिवज्जदि तं किवया तस्सेसा होदि अणुकंपा।।१।।

६. पव्वयिदो ज.वृ.। ७ ... संजुदो चावि ज. वृ. ।

अजधाचारविजुत्तो, जदत्थपदणिच्छिदोपसंतप्पा।
अफले चिरं ण जीवदि, इह सो संपुण्णसामण्णो।।७२।।

जो मिथ्याचरित्रसे रहित है तथा यथावस्थित पदार्थोंका निश्चय होनेसे जिसकी आत्मा शांत है -- कषायके उद्रेकसे रहित है वह संपूर्ण मुनिपदको धारण करनेवाला मुनि इस निःसार संसारमें चिरकाल तक जीवित नहीं रहता अर्थात् शीघ्र ही मुक्त हो जाता है।।७२।।

आगे मोक्षतत्त्वका साधनतत्त्व दिखलाते हैं --

सम्मं विदिदपदत्था, चत्ता उवहिं बहित्थमज्झत्थं।
विसयेसु णावसत्ता, जे ते सुद्धत्ति णिद्दिट्ठा।।७३।।

जिन्होंने यथार्थ रूपसे समस्त तत्त्वोंको जान लिया है और जो बहिरंग तथा अंतरंग परिग्रहको छोड़कर पंचेंद्रियोंके विषयोंमें लीन नहीं हैं वे महामुनि शुद्ध हैं -- मोक्षतत्त्वको साधन करनेवाले हैं ऐसा कहा गया है।।७३।।

आगे मोक्षतत्त्वका साधनतत्त्व सब मनोरथोंका स्थान है ऐसा कहते हैं --

सुद्धस्स य सामण्णं, भणियं सुद्धस्स दंसणं णाणं।
सुद्धस्स य णिव्वाणं, सोच्चिय सिद्धो णमो तस्स।।७४।।

साक्षात् मोक्षतत्त्वको साधन करनेवाले शुद्धोपयोगी मुनिके ही मुनिपद कहा गया है, उसीके दर्शन और ज्ञान कहे गये हैं, उसीके मोक्ष कहा गया है और वही सिद्धस्वरूप है। ऐसे शुद्धोपयोगी महामुनिको नमस्कार हो।।७४।।

आगे शिष्यजनोंको शास्त्रका फल दिखलाते हुए प्रकृत ग्रंथको समाप्त करते हैं --

बुज्झदि सासणमेयं, सागारणगारचरियया जुत्तो।
जो सो पवयणसारं, लहुणा कालेण पप्पोदि।।७५।।

जो पुरुष, गृहस्थ अथवा मुनिकी चर्यासे युक्त होता हुआ अरहंत भगवान्‌के इस शासनको समझता है वह अल्प कालमें ही प्रवचनसारको -- सिद्धांतके रहस्यभूत परमात्मभावको पा लेता है।।

***